काठ में कोंपल

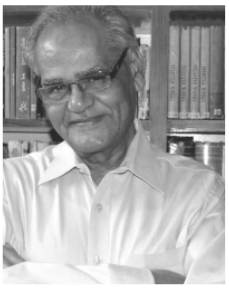

रमेश उपाध्याय

काठ में कोंपल

https://www.hindiadda.com/kath-mein-kompal/

मित्रो, मेरे लिए यह बड़े हर्ष और गर्व की बात है कि विश्वविद्यालय के इतिहास विभाग ने, समाजविज्ञानियों की बिरादरी ने, मेरी माँ प्रोफेसर समीरा खान और मेरे पिता प्रोफेसर प्रणव कुमार के साथी शिक्षकों और छात्रों ने, उन दोनों के मित्रों ने, जिनमें इतिहासकार, लेखक, पत्रकार, जन-आंदोलनों से जुड़े नेता-कार्यकर्ता आदि शामिल हैं, और इस सभागार में उपस्थित आप सब ने उन दोनों की स्मृति में यह व्याख्यानमाला शुरू की है। इसका पहला व्याख्यान देने के लिए आपने उनकी बेटी दीक्षा को अर्थात मुझे आमंत्रित किया है, इसके लिए मैं हृदय से आप सबकी आभारी हूँ।

पिछले साल आज के ही दिन मेरे माता-पिता की मृत्यु एक विमान दुर्घटना में हो गई थी। आप में से बहुत-से लोगों को याद होगा कि वे दोनों लंदन में आयोजित एक सम्मान समारोह में शामिल होकर लौट रहे थे। वह सम्मान समारोह मेरे पिता के द्वारा लिखी गई पुस्तक 'भूमंडलीकरण का इतिहास' के प्रकाशक द्वारा आयोजित किया गया था। यह वही प्रकाशक था, जिसने कुछ साल पहले उनकी पुस्तक 'शीतयुद्ध का इतिहास' और फिर मेरी माँ की पुस्तक 'दुनिया का इतिहास और इतिहास की दुनिया' भी प्रकाशित की थी। इसलिए पापा के सम्मान समारोह में उसने माँ को भी आमंत्रित किया था। लेकिन वहाँ से लौटते समय रास्ते में उनका विमान दुर्घटनाग्रस्त हो गया और उसमें सवार सभी यात्री चालक दल सहित मारे गए। अपने माता-पिता और उनके साथ मारे गए सभी लोगों को मेरी हार्दिक श्रद्धांजलि।

मित्रो, मैं अपने माता-पिता की तरह पढ़ाने के पेशे में कभी नहीं रही, इसलिए मुझे व्याख्यान देना नहीं आता। इतिहासकार भी मैं नहीं हूँ। मेरा पेशा फिल्में बनाना है। डॉक्यूमेंटरी फिल्में। इसलिए मैं माँ और पापा के द्वारा लिखी गई इतिहास की पुस्तकों के बारे में कुछ नहीं कह पाऊँगी। व्याख्यान के आयोजकों को मैंने अपनी ये अक्षमताएँ बता दी थीं। फिर भी उन्होंने व्याख्यानमाला का आरंभ मुझसे ही कराना उचित समझा और मुझसे कहा कि मैं अपने माता-पिता को याद करते हुए जो मेरे जी में आए, बोलूँ। जैसे भी बोल सकूँ, बोलूँ।

बोलने से संबंधित अपनी एक और अक्षमता के लिए मैं आपसे क्षमा चाहती हूँ। भारतीय और उत्तर भारतीय होते हुए भी, अनेक भारतीय और विदेशी भाषाओं के जानकार माता-पिता की बेटी होते हुए भी, और इसी दिल्ली शहर में रहकर पली-पढ़ी होते हुए भी मैं साफ-सुथरी हिंदी या उर्दू नहीं बोल पाती हूँ। लेकिन अपनी पीढ़ी के ज्यादातर लोगों की तरह हिंग्लिश में बोलना मैं चाहती नहीं, इसलिए अँग्रेजी में बोलूँगी। मैं व्याख्यान के आरंभ में अपनी माँ समीरा खान की आत्मकथा 'इतिहास से

मेरा संवाद और संघर्ष' का एक अंश पढ़कर सुनाऊँगी और अंत में अपने पिता प्रणव कुमार का एक पत्र पढ़कर सुनाऊँगी, जो उन्होंने मुझे अपनी मृत्यु से दो दिन पहले लंदन से अपनी पुस्तक भेजते हुए लिखा था। उस समय मैं ब्राजील में अपने पति के साथ वहाँ के एक जन-आंदोलन की शूटिंग में व्यस्त थी, इसलिए उनके सम्मान समारोह में भाग लेने लंदन नहीं जा पाई थी।

तो, सबसे पहले आप मेरी माँ की आत्मकथा का यह अंश सुनें !

मेरे पति प्रणव कुमार मेरे शिक्षक थे और उम्र में मुझसे आठ साल बड़े थे। लेकिन वे मुझे हमेशा हमउम्र ही लगते थे। वे प्रोफेसर कम लगते थे, सहपाठी मित्र अधिक। दूसरे प्रोफेसरों की तरह वे लेक्चर नहीं देते थे, बातचीत करते थे। बीच-बीच में हल्के-फुल्के हास्य-व्यंग्य से पूरी कक्षा को हँसाते रहते, लेकिन गंभीर प्रश्न उठाकर कोई न कोई बहस भी छेड़ते रहते। किसी और प्रोफेसर की क्लास में हम खुलकर हँस तो क्या, बोल भी नहीं सकते थे, जबकि उनसे हम बाकायदा बहस करते थे। क्लास में ही नहीं, क्लास के बाहर भी हम उनसे मिल सकते थे। उनसे कुछ भी पूछ सकते थे। उन्हें घेरकर कैंटीन में ले जा सकते थे और उनके साथ चाय पीते हुए हँसी-ठट्ठा भी कर सकते थे।

उन दिनों लोग रिटायर होने के करीब पहुँचने पर प्रोफेसर बना करते थे। बहुत-से तो बन ही नहीं पाते थे। बेचारे लेक्चरर नियुक्त होते थे और अधिक से अधिक रीडर बनकर रिटायर हो जाते थे। इसलिए लोग आश्चर्य करते थे कि प्रणव कुमार तीस की उम्र में ही प्रोफेसर कैसे बन गए। लेकिन इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं थी। अट्ठाईस साल की उम्र में उन्होंने पी-एच.डी. कर ली थी। सो भी ऐसे कठिन और अनोखे विषय पर कि उसके लिए उन्हें गाइड मिलना मुश्किल हो गया था। अव्वल तो उनके शोध का विषय ही बड़ी मुश्किल से स्वीकृत हुआ था, क्योंकि विषय स्वीकृत करने वाली समिति का कहना था - यह तो इतिहास का नहीं, राजनीतिशास्त्र का विषय है। जो विषय प्रणव कुमार ने चुना था, वह था शीतयुद्ध का इतिहास। सोचिए जरा, यह तब की बात है, जब सोवियत संघ मौजूद था और शीतयुद्ध जारी था। इतिहास विभाग के सब लोगों ने, विभागाध्यक्ष तक ने, उनसे कहा कि मूर्खता मत करो, कोई और विषय ले लो। जो चीज अभी इतिहास बनी ही नहीं, उसका इतिहास तुम कैसे लिखोगे? उसके लिए सामग्री कहाँ से जुटाओगे? कौन तुम्हें गाइड करेगा? कौन तुम्हारी परीक्षा लेगा? मगर प्रणव कुमार नहीं माने, अपनी जिद पर अड़े रहे।

खैर, जैसे-तैसे विषय स्वीकृत हुआ और विषय को देखते हुए उनके दो गाइड बनाए गए। एक इतिहास विभाग के प्रोफेसर, दूसरे राजनीतिशास्त्र विभाग के प्रोफेसर। वे दोनों अपने शोध छात्र को गाइड कम करते थे, आपस में लड़ते ज्यादा थे। प्रणव कुमार ने अपनी ही सूझ-बूझ और मेहनत से अपना काम पूरा किया और पी-एच.डी. हो गए। उस काम से बनी उनकी पुस्तक भी जल्दी ही प्रकाशित हो गई।

अब, एक तो विषय एकदम नया और चुनौती भरा, दूसरे, पुस्तक बहुत अच्छे ढंग से लिखी गई थी। इसलिए प्रकाशित होते ही उसकी धूम मच गई। हालाँकि उसकी आलोचना भी हुई, उस पर विवाद भी छिड़ा, खास तौर से इस बात को लेकर कि उसमें पूँजीवाद और समाजवाद में से, या अमरीका और रूस में से, किसी एक का पक्ष लेने के बजाय दोनों की, और दोनों के बीच जारी शीतयुद्ध की, आलोचना की गई थी। आलोचना और विवाद का मुद्दा यह था कि प्रणव कुमार ने रूसी या अमरीकी दृष्टिकोण अपनाने के बजाय तीसरी दुनिया वाला, बल्कि उसमें भी भारत और दूसरे गुटनिरपेक्ष देशों वाला दृष्टिकोण अपनाया था, जो न रूस के समर्थकों को पसंद था, न अमरीका के समर्थकों को। दोनों ने अपने-अपने पक्ष से पुस्तक की आलोचना की। मगर लेखक को इससे लाभ ही हुआ। प्रणव कुमार अपनी पहली ही पुस्तक से चर्चित हो गए। इतिहास पढ़ने-पढ़ाने वालों के बीच ही नहीं, लेखकों, पत्रकारों और राजनीतिक नेताओं तथा कार्यकर्ताओं के बीच भी उनकी पुस्तक लोकप्रिय हुई। इस प्रकार प्रणव कुमार इतिहासकार बन गए। फिर उन्हें तीस साल की उम्र में प्रोफेसर बनने से कौन रोक सकता था?

मैं नाम नहीं लूँगी, लेकिन जिन चीजों की चर्चा करूँगी, उनसे आप स्वयं ही समझ जाएँगे कि मैं किन लेखकों और उनके किन लेखों या पुस्तकों की बात कर रही हूँ। प्रोफेसर प्रणव कुमार के बारे में कुछ भ्रांत धारणाएँ फैलाई गई थीं। कुछ मिथ्या आरोप भी लगाए गए थे। उनमें से दो आरोप मुख्य थे। एक - प्रोफेसर प्रणव कुमार विश्वसनीय इतिहासकार नहीं हैं, क्योंकि वे इतिहास के बारे में अपने विचार और धारणाएँ बदलते रहते हैं। दो - प्रोफेसर प्रणव कुमार ने इतिहास-लेखन की तमाम वैज्ञानिक पद्धतियों को गलत बताते हुए एक नई किंतु सर्वथा गलत और भ्रामक स्थापना प्रस्तुत की है कि इतिहास फैक्ट नहीं होता, एक प्रकार का फिक्शन होता है और होना भी चाहिए; क्योंकि सच्चा इतिहास अपने समय से आगे का अथवा भविष्य का इतिहास होता है, जो अपने समय का सच ही नहीं कहता, आगे के समयों का सच भी कहता है।

पहला आरोप प्रणव कुमार द्वारा लिखित शीतयुद्ध के इतिहास के संदर्भ में लगाया गया था। कहा गया था कि पुस्तक के पहले संस्करण में उन्होंने जो लिखा था, दूसरे संस्करण में बदल दिया। एक प्रकार से यह आरोप सही है। यदि आप पुस्तक के पहले संस्करण का मिलान पाँच साल बाद छपे उसके दूसरे संस्करण से करें, तो पाएँगे कि वह एक प्रकार का संशोधित, परिवर्तित, परिवर्द्धित या कहें कि पुनर्लिखित संस्करण है। उसमें नए तथ्य हैं, उनके नए विश्लेषण हैं और साथ-साथ एक नई दृष्टि भी है। पहले संस्करण में उस इतिहास का लेखक शीतयुद्ध में शामिल दोनों पक्षों के दृष्टिकोण से लगभग समान दूरी बनाए रखते हुए अपने एक-तीसरे ही दृष्टिकोण से शीतयुद्ध को देखता है और भारतीय संदर्भ में उससे निकलने वाले निष्कर्षों की रोशनी में दुनिया के संभावित भविष्य की परिकल्पना करता है। लेकिन दूसरे संस्करण में वह पूँजीवाद और समाजवाद में से समाजवाद की तरफ झुका हुआ दिखाई देता है। अमरीका और रूस में से रूस की तरफ झुका हुआ दिखाई देता है और अपने भारतीय दृष्टिकोण को एक प्रकार के वैश्विक दृष्टिकोण में बदलता या विकसित करता दिखाई देता है।

इस बदलाव से यह निष्कर्ष बड़ी आसानी से निकाला जा सकता है कि लेखक के विचार बदल गए हैं। लेकिन यह बदलाव क्यों आया, और क्यों आना जरूरी था, इसका उत्तर देश और दुनिया में आए बदलावों के साथ-साथ लेखक के निजी जीवन में आए बदलावों को देखने पर मिलेगा।

मैंने उस बदलाव को अपनी आँखों से देखा था। बल्कि यों कहें कि उसमें मेरी भी भागीदारी थी। मैं जब एम.ए. में पढ़ रही थी, तभी से अपने प्रोफेसर प्रणव कुमार पर मुग्ध थी। मुझे लगता था कि वे भी मुझे पसंद करते हैं। कारण यह था कि उनके सब छात्रों में अकेली मैं ही थी, जिसने उनकी शीतयुद्ध वाली पुस्तक पढ़ी थी और उस पर उनसे बात की थी। उन्हें यह सुनकर विश्वास नहीं हुआ था कि मैंने उनकी पुस्तक पढ़ी है। बोले, "तुम ऐसी किताबें पढ़ती हो?" मैंने उन्हें बताया कि मेरे पिता कम्युनिस्ट हैं, एक कम्युनिस्ट पार्टी के कार्यकर्ता हैं और उस पार्टी के साप्ताहिक अखबार में काम करने वाले पत्रकार हैं। मैंने उन्हें यह भी बताया कि मेरे पिता नई से नई किताबें पढ़ते हैं और घर आते रहने वाले अपने मित्रों और साथियों से उन पर खूब बात-बहस करते हैं। उन लोगों की बातें-बहसें सुन-सुनकर मैं भी राजनीति को कुछ-कुछ समझने लगी हूँ। जो बातें मेरी समझ में नहीं आतीं, मैं अपने पिता से पूछ लेती हूँ। मेरे पिता मेरे सवालों के जवाब खुद तो देते ही हैं, मुझे कुछ किताबें भी बता देते हैं, या अपनी

किताबों में से खुद ही निकालकर दे देते हैं। मैंने बड़े गर्व के साथ कहा था, "सर, हमारे घर में बहुत किताबें हैं। समझिए कि एक पूरी लाइब्रेरी है।"

"तब तो किसी दिन तुम्हारे घर आना पड़ेगा।" प्रोफेसर प्रणव कुमार ने मुझसे कहा था। वे मेरे घर तो नहीं आए, लेकिन उस दिन के बाद जब भी मिलते और मैं नमस्ते करती, तो वे "हैलो, कॉमरेड!" कहकर मुस्कराते। पता नहीं उस मुस्कान में मजाक उड़ाने वाला भाव होता था या मेरी सराहना का, लेकिन जो भी हो, मुझे वह मुस्कान बहुत अच्छी लगती थी। कहूँ कि उनके मुँह से "हैलो, कॉमरेड!" सुनकर मैं धन्य-धन्य हो जाती थी। मगर मैं मन ही मन उनसे प्रेम करते हुए भी सोचती थी कि मेरा प्रेम एकतरफा है और अव्यक्त ही रहेगा। कहाँ तीस-इकत्तीस साल का एक प्रोफेसर और कहाँ बाईस-तेईस साल की उसकी एक छात्रा! कहाँ एक सुंदर और शानदार व्यक्तित्व, कहाँ साधारण रूप-रंग वाली एक दुबली-पतली मध्यवर्गीय लड़की! हालाँकि वे युवा प्रोफेसर कहलाते हैं, लेकिन हैं तो उम्र में मुझसे आठ साल बड़े। और फिर सबसे बड़ी बाधा तो यह कि वे हिंदू हैं और मैं मुसलमान!

यही सब सोचकर मैं अपने एकतरफा प्रेम को मन में कसकर बंद किए रहती थी। सचेत रहती थी कि वह कहीं खुलकर व्यक्त न हो जाए। मगर मन मानता नहीं था। नतीजा यह हुआ कि एम.ए. करने के बाद मैंने पी-एच.डी. करने की ठानी और शोध के लिए ऐसा विषय लेने की सोची कि गाइड के रूप में मुझे प्रोफेसर प्रणव कुमार ही मिलें। विषय सोचकर मैं उनके पास गई कि सिनॉप्सिस बनाने में वे मेरी मदद कर दें। उन्होंने अपने चिर-परिचित अंदाज में मुस्कराते हुए "हैलो, कॉमरेड!" कहकर मेरा स्वागत किया और विषय पूछा। मैंने बताया, "भारतीय वामपंथ का उदय और विकास।" सुनकर हँसे और बोले, "तुम्हारे पापा ने सुझाया है?" मैंने कहा, "नहीं। मुझे खुद सूझा है।" फिर कुछ सोचकर बोले, "सोच लो, ऐसे विषय पर पी-एच.डी. करोगी, तो नौकरी मिलना मुश्किल होगा।" मैंने कहा, "देखा जाएगा, सर, अभी तो आप मेरी सिनॉप्सिस बनवा दीजिए और हो सके, तो मेरे गाइड भी आप ही रहिएगा।"

विषय स्वीकृत हो गया था और गाइड भी मुझे वे ही मिले थे। मैंने सुन रखा था कि शोध छात्राओं को अपने गाइडों से अक्सर मिलना पड़ता है और उनमें से कुछ बदमाश प्रोफेसर उन्हें अपने घर पर या अन्यत्र कहीं एकांत में बुलाकर उनका यौन शोषण करते हैं। मैंने सोच लिया था कि प्रणव कुमार की ओर से ऐसा कोई संकेत भी मिला, तो मैं उन्हें खरी-खरी सुना दूँगी और शोध करने का विचार ही त्याग दूँगी। मगर उन्होंने मुझे अपने घर या अन्यत्र कहीं नहीं बुलाया। वे मुझे हमेशा इतिहास विभाग में ही मिलने के लिए बुलाते थे और वहाँ दूसरे प्रोफेसरों के सामने ही मुझसे बात करते थे।

हम एक कोने में बैठ जाते और शोध के विषय पर बातें करते रहते। अक्सर वे ही बोलते रहते और मैं नोट्स लेती रहती।

लेकिन इतिहास विभाग के दूसरे लोगों को ज्यों ही पता चला कि मैं मुसलमान ही नहीं, एक कम्युनिस्ट पिता की बेटी भी हूँ, उनमें से कई लोग मेरे वहाँ आकर बैठने पर आपत्ति करने लगे। उनमें एक तरफ वे पुरुष थे, जिन्हें प्रणव कुमार के तीस साल की उम्र में ही प्रोफेसर बन जाने से तकलीफ हुई थी और दूसरी तरफ वे महिलाएँ थीं, जो अविवाहित थीं और प्रणव कुमार से शादी करना चाहती थीं। इन दोनों तरह के लोगों में कुछ ऐसे भी थे, जो मुसलमानों के प्रति घृणा और कम्युनिस्टों के प्रति शत्रुता का भाव रखते थे। वे सब मेरे और प्रणव कुमार के बारे में तरह-तरह के दुष्प्रचार करने लगे।

मैं तो परेशान हो गई, लेकिन प्रणव कुमार ने हिम्मत दिखाई। एक दिन जब मैं विभाग में उनसे मिलने के बाद अपने घर जाने के लिए बस स्टैंड की तरफ जा रही थी, वे पीछे से अपनी मोटरसाइकिल पर आए और मेरे पास रुककर बोले, "तुम्हें तुम्हारे घर छोड़ दूँ?" मैं रोमांचित हो उठी। शुक्रिया कहकर उनके पीछे बैठ गई। रास्ते में एक रेस्तराँ के सामने रुककर उन्होंने पूछा, "चाय पियोगी? तुम से मुझे कुछ बात भी करनी है।" चाय पीते समय उन्होंने कोई भूमिका बाँधे बिना सीधे ही पूछ लिया, "मुझसे शादी करोगी?" मैं तो खुशी से पागल-सी हो जाने को हुई, मगर मैंने संयम बरतते हुए कहा, "मुझे अपने अब्बू-अम्मी से पूछना पड़ेगा।" यह सुनकर वे बोले, "चलो, अभी चलकर पूछ लेते हैं।"

मैंने पूछा, "लेकिन, सर, यह अचानक इतना बड़ा फैसला? बात क्या है?" उन्होंने अपने सहकर्मियों द्वारा फैलाई जा रही अफवाहों के बारे में बताकर कहा, "तुम ने 'करेला और नीम चढ़ा' वाली कहावत सुनी है? विभाग में कुछ लोग मुझे देखते ही एक फब्ती कसते हैं - करेली और नीम चढ़ी! यानी तुम! इस तरह वे तुम पर और तुम्हारे पिता पर ही नहीं, मुझ पर भी हँसते हैं। ऐसी हँसी, जिसमें जहर भरा होता है। यह मुझसे बर्दाश्त नहीं होता। अपनी बदनामी तो मैं शायद बर्दाश्त कर भी लूँ, तुम्हारी बदनामी हरगिज बर्दाश्त नहीं कर सकता।"

"मैं भी यह बर्दाश्त नहीं कर सकती कि मेरे कारण आपको परेशानी हो। मैं विभाग में आकर आपसे मिलना बंद कर दूँगी। या शोध करने का विचार ही छोड़ दूँगी।" मैंने कहा और साथ ही यह भी जोड़ दिया कि "आप मुझे बदनामी से बचाने के लिए मुझसे शादी कर लें, यह तो मुझ पर एहसान करना या मेरे लिए शहीद हो जाना होगा। यह मैं कभी नहीं चाहूँगी।" यह सुनकर उन्होंने कहा, "इसमें एहसान या शहादत की क्या बात है?"

तो मैंने कहा, "मैं आपके सामने क्या हूँ? ऐसी लड़की से शादी करना, जो आपके लायक नहीं है, उस पर एहसान करना ही हुआ!" तब उन्होंने पहली बार बताया कि वे मुझे चाहते हैं और मुझसे शादी करके मुझ पर कोई एहसान नहीं करेंगे, क्योंकि मुझ में उन्हें वह लड़की मिल गई है, जिसे वे अपना जीवन-साथी बनाने के लिए खोज रहे थे।

उन्होंने मानो अपने शब्दों की सच्चाई का विश्वास दिलाने के लिए मेरे दोनों हाथ अपने हाथों में लेकर हौले से दबाते हुए कहा, "मैं पत्नी के रूप में कोई घरेलू औरत या बाहर उड़ती फिरती रहने वाली फैशनेबल तितली नहीं चाहता। मैं ऐसी जीवन-साथी चाहता हूँ, जो मुझे और मेरे काम को समझ सके। उसमें मेरा सहयोग कर सके। और वह तुम ही हो सकती हो, यह मैं तभी से जानता हूँ, जब तुमने मेरी किताब पढ़कर मुझसे बात की थी। तुम जैसी बौद्धिक लड़की मुझे न तो अपने साथ पढ़ने वाली लड़कियों में मिली, न साथ पढ़ाने वाली लड़कियों में।"

"लेकिन मजहब...? उसका क्या?" मैंने पूछा, तो वे हँसकर बोले, "तुम ही सारी बातें तय कर लोगी या अपने अब्बू-अम्मी के लिए भी कुछ छोड़ोगी? चलो, मुझे अपने घर ले चलो। मैं आज उनसे मिलकर बात करने के पक्के इरादे के साथ निकला हूँ।"

मैंने भी हँसकर कहा, "बात करने के पक्के इरादे से या बात पक्की करने के इरादे से?"

खैर, बात पक्की हो गई और हमारी शादी हो गई। मेरी माँ को कुछ आपत्ति थी, लेकिन मेरे पिता ने उन्हें समझा-बुझाकर मना लिया।

शादी कोर्ट में हुई थी। मेरी तरफ से गवाह बने अब्बू की पार्टी के कुछ कॉमरेड और प्रणव की तरफ से विश्वविद्यालय के कुछ वामपंथी शिक्षक। प्रणव ने अपने माता-पिता की संभावित आपत्ति को ध्यान में रखते हुए उन्हें सूचना नहीं दी। उनकी तरफ से उनकी एक बुआ आई, जो विधवा थीं, ससुराल से निकाल दी गई थीं और प्रणव के पास आकर रहने लगी थीं। सामान्य परिस्थिति में शायद वे भी हिंदू-मुसलमान का सवाल उठाकर हमारी शादी का विरोध करतीं, लेकिन वे प्रणव की आश्रित थीं, इसलिए - और इसलिए भी कि वे बहुत ही भली महिला थीं - उन्होंने मुझे प्यार से अपना लिया।

इसी तरह मेरे माता-पिता भी प्रणव को प्यार से अपना लेना चाहते थे, लेकिन पुरानी दिल्ली में, जहाँ हम लोग रहते थे, हमारे मुहल्ले-पड़ोस के मुसलमानों को यह अच्छा

नहीं लगा कि उन्होंने अपनी बेटी की शादी एक हिंदू से कर दी। प्रणव ने अब्बू से पहली मुलाकात में ही कह दिया था कि वे अब्बू के निजी पुस्तकालय का लाभ लेने के लिए आया करेंगे, लेकिन शादी के बाद सांप्रदायिक मिजाज वाले कुछ पड़ोसी लड़कों ने ऐसी धमकियाँ दीं कि अब्बू ने प्रणव से कह दिया, "बेटा, तुम यहाँ नहीं, पार्टी के ऑफिस में आ जाया करो। वहाँ भी बहुत किताबें हैं और वहाँ मेरे अलावा दूसरे कई लोगों से भी तुम मिल सकोगे।"

प्रणव वहाँ जाने लगे। वहाँ से लेकर किताबें पढ़ने लगे। पार्टी के लोगों से मिलने लगे। पार्टी की विचारधारा और राजनीति से प्रभावित होकर एक नई दृष्टि से दुनिया को देखने लगे।

अब आप समझ सकते हैं कि हमारी शादी के बाद प्रणव की शीतयुद्ध वाली पुस्तक का जो दूसरा संस्करण निकला, वह एक प्रकार का पुनर्लिखित इतिहास क्यों था। वह सही था या गलत, यह सवाल मैं नहीं उठा रही हूँ, क्योंकि जहाँ एक तरफ उसे सही मानने वालों ने प्रणव की दृष्टि और विचारधारा में आए बदलाव की प्रशंसा की, वहीं दूसरी तरफ उसे गलत मानने वालों ने उस बदलाव की निंदा की। वह भारतीय प्रकाशक भी, जिसने प्रणव की पुस्तक का पहला संस्करण छापा था, निंदा से प्रभावित हुआ और उसने दूसरा संस्करण छापने से इनकार कर दिया। मगर लंदन के एक प्रकाशक ने दूसरा संस्करण खुश होकर प्रकाशित किया। अंतरराष्ट्रीय स्तर पर पुस्तक के दूसरे संस्करण को पहले से बहुत बेहतर माना गया। वह पुस्तक खूब बिकी। कई विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रमों में लगी। दुनिया की कई भाषाओं में उसके अनुवाद हुए। प्रणव को उससे इतिहासकार के रूप में अंतरराष्ट्रीय ख्याति मिली।

अब मैं प्रणव पर लगाए गए दूसरे आरोप की चर्चा करूँगी। उन पर आरोप लगाया गया कि वे इतिहास को फैक्ट नहीं, बल्कि फिक्शन मानते हैं। एक प्रकार का कथासाहित्य, जो कल्पना के आधार पर लिखा जाता है।

दरअसल, प्रणव पर यह आरोप उन लोगों ने लगाया था, जो इतिहास-लेखन को तटस्थता और निष्पक्षता के साथ किया गया तथ्यों का वर्णन मात्र मानते थे और इसी को मूल्य-मुक्त वैज्ञानिक इतिहास-लेखन बताते थे। प्रणव ने इस मान्यता को चुनौती देते हुए यह सिद्धांत सामने रखा कि इतिहास कभी तटस्थ या निष्पक्ष नहीं होता। वह न तो तथ्यों का वर्णन मात्र होता है, न पक्षधरता और प्रतिबद्धता जैसे मूल्यों से मुक्त। प्रणव का कहना था कि इतिहास हमेशा वर्तमान को ध्यान में रखकर लिखा जाता रहा है। वह या तो वर्तमान में यथास्थिति को बनाए रखने के लिए यह बताता है

कि अतीत में हमेशा ऐसा ही होता रहा है, या वर्तमान शासक वर्ग द्वारा किए जा रहे परिवर्तनों को यह कहकर सही ठहराता है कि अतीत में भी ऐसे परिवर्तन होते रहे हैं। दोनों सूरतों में ऐसा इतिहास शासक वर्गों की दृष्टि से लिखी जाने वाली एक पक्षपातपूर्ण कहानी रहा है।

प्रणव का कहना था कि इतिहास अगर कहानी है, तो यह कोई बुरी बात नहीं। बुरी बात यह है कि वह कहानी राजाओं और सम्राटों के द्वारा राज्यों और साम्राज्यों के हित में लिखी और लिखवाई जाती रही है। लेकिन अब ऐसे इतिहास की जरूरत है, जो वैश्विक जनगण के हित में अतीत की कहानी कहे-ऐसी कहानी, जो वर्तमान विश्व व्यवस्था को बनाए रखने के लिए अतीत से उदाहरण प्रस्तुत न करे, बल्कि भविष्य की एक बेहतर विश्व व्यवस्था बनाने के लिए वैश्विक जनगण को अतीत के अनुभवों से दृष्टिसंपन्न बनाकर वर्तमान को बदलने और अपने भविष्य का निर्माण करने में समर्थ बनाए। ऐसा इतिहास भविष्य की किसी कल्पना के बिना नहीं लिखा जा सकता।

इसी संदर्भ में प्रणव ने राष्ट्र और राष्ट्रवाद की आलोचना की थी। उनका कहना था कि राष्ट्र एक कल्पना है, जो यथार्थ मान ली गई है और उस पर आधारित राष्ट्रवाद संपूर्ण मानवता को एक अखंड इकाई न मानकर अलग-अलग टुकड़ों में बाँटता है और उन्हें आपस में लड़ाता है। लेकिन प्रणव ने अपने कुछ लेखों में यह विचार व्यक्त किया, तो अकादमिक जगत के लोग ही नहीं, कई लेखक और पत्रकार भी, राजनीतिक नेता और कार्यकर्ता भी प्रणव के विरोधी हो गए। और जब कुछ वामपंथी इतिहासकार, लेखक, पत्रकार आदि प्रणव के समर्थन में आ खड़े हुए, तो प्रणव के विरोधी प्रणव को कम्युनिस्ट और राष्ट्रद्रोही आदि कहने लगे, जबकि वास्तव में प्रणव पार्टी पॉलिटिक्स से दूर रहने वाले एक देशभक्त किस्म के आदमी थे। वे मार्क्स-एंगेल्स के विचारों से प्रभावित थे, लेकिन बुद्ध और गांधी के विचारों से भी कम प्रभावित नहीं थे। मेरे अब्बू और उनके कई कॉमरेड चाहते थे कि प्रणव उनकी पार्टी में आ जाएँ, लेकिन प्रणव का एक ही जवाब होता था, "राजनीति मेरा क्षेत्र नहीं है। मेरा क्षेत्र इतिहास है और मैं उसी में रहकर काम करना चाहता हूँ।"

लेकिन आप राजनीति में रहें या न रहें, राजनीति आपको प्रभावित करती है। उन दिनों जिस राजनीति का देश और समाज में बोलबाला था, उसका शिकार हमें अपने निजी जीवन में भी होना पड़ता था। एक समय तो ऐसा आया, जब हम बहुत ही परेशान हो गए थे।

हमारी शादी हुए लगभग दस साल हो चुके थे। मैं पी-एच.डी. कर चुकी थी और विश्वविद्यालय से संबद्ध एक कॉलेज में पढ़ाने लगी थी। मैं और प्रणव अपनी-अपनी नौकरी करने जाते। प्रणव की बुआ घर का काम सँभालतीं और हमारी बेटी दीक्षा को प्यार से पालतीं। घर की ओर से निश्चत होने के कारण प्रणव बाहर के झगड़े-झंझट झेल लेते थे। मैं हालाँकि मुसलमान होने के कारण कॉलेज में कुछ नीची नजर से देखी जाती थी, लेकिन इसे आम भारतीय मुसलमान की नियति-सी मानकर सह लेती थी। वैसे भी मैं अपने काम से काम रखती थी। कॉलेज में पढ़ाने के बाद सीधी घर लौटती थी और घर-परिवार के कामों से निपटने के बाद अपने पढ़ने-लिखने में व्यस्त हो जाती थी।

दिन ठीक-ठाक कट रहे थे कि एक दिन अचानक बुआ को दिल का दौरा पड़ा और वे चल बसीं। बुआ का हम लोगों को बड़ा सहारा था। उनके मरने के बाद हमारे सामने समस्या खड़ी हो गई कि जब मैं और प्रणव अपनी-अपनी नौकरी करने जाएँ, तो घर और दीक्षा को कौन सँभाले। प्रणव के माता-पिता, भाई-बहन और नाते-रिश्ते के तमाम लोग मुझसे शादी कर लेने के कारण प्रणव से अपने नाते तोड़ चुके थे और मेरी तरफ से भी मेरे माता-पिता के सिवा हमारा साथ देने वाला कोई नहीं था। समझ में नहीं आ रहा था कि हम क्या करें?

प्रणव ने इस समस्या का समाधान यह निकाला कि एक दिन वे मेरे माता-पिता को समझा-बुझाकर हमारे साथ रहने के लिए ले आए और बुआ वाले कमरे में उनके रहने की व्यवस्था कर दी। लेकिन इस समाधान से एक और समस्या, बड़ी विकट समस्या, खड़ी हो गई।

अभी तक हमारे पड़ोसी अपनी उदारता, सहिष्णुता और प्रगतिशीलता का परिचय देते हुए हम लोगों को बर्दाश्त करते आ रहे थे। हमारा मकान मालिक तो, जो हिंदू लड़कियों के मुसलमान लड़कों से शादी करने को बहुत बुरा मानता था, यह जानकर खुश भी था कि एक हिंदू लड़का मुसलमान लड़की को ले आया। लेकिन मेरे अब्बू और अम्मी को हमारे घर में रहते देख पड़ोसियों को ऐसा लगा, मानो पाकिस्तान उनके पड़ोस में आ बसा हो। उनमें से किसी ने हमारे मकान मालिक को जा भड़काया और वह मकान खाली कराने आ गया। हमने वजह पूछी, तो बोला, "तुम्हारा ग्यारह महीने का एग्रीमेंट खत्म हो चुका।" प्रणव ने हँसकर कहा, "किराया बढ़ाना है न? बढ़ा दीजिए और नया एग्रीमेंट कर लीजिए।" सालों-साल से यही चला आ रहा था, लेकिन इस बार मकान मालिक ने मुँह टेढ़ा करके कहा, "अब मुझे मकान किराए पर देना ही नहीं। मुझे अपना मकान अपने लिए चाहिए। खाली करना पड़ेगा।"

बड़ी मुश्किल से उसने हमें एक महीने का वक्त दिया। मेरे माता-पिता समझ गए कि यह परेशानी उनके आने की वजह से पैदा हुई है, इसलिए वे वापस अपने घर में रहने चले गए। हमने एक कामवाली रख ली और दूसरा मकान तलाशने में जुट गए।

कामवाली का नाम श्यामा था। वह साँवले रंग की एक दुबली-पतली सुंदर लड़की थी, जिसकी नई-नई शादी हुई थी। उसका पति बढ़ई था। वे दोनों बिहार के थे और हमारे घर से कुछ ही दूरी पर बसी एक झुग्गी बस्ती में रहते थे। पति जहाँ-तहाँ बढ़ई का काम करता और श्यामा हमारी कॉलोनी के तीन-चार घरों में बर्तन माँजने और सफाई का काम करती थी। वह भरोसेमंद थी, इसलिए जब हमें मकान खोजने जाना होता, उसे कुछ घंटों के लिए बुलाकर दीक्षा की देखभाल की जिम्मेदारी सौंप जाते।

मकान खोजने कभी मैं और प्रणव ही जाते, तो कभी अपने मित्रों के साथ, जिनमें से ज्यादातर हमारे शिक्षक साथी होते थे। वे तीन अलग-अलग कम्युनिस्ट पार्टियों से जुड़े हुए थे, लेकिन हमारे साझे मित्र थे। हम किसी पार्टी से जुड़े नहीं थे और वे हमें अपनी-अपनी पार्टी से जोड़ना चाहते थे।

लेकिन इधर समाज को न जाने क्या हो गया था कि हम चाहे प्रॉपर्टी डीलर के पास जाएँ या सीधे मकान मालिक से जाकर मिलें, सबसे पहले यह पूछा जाता कि हम कौन हैं। हमने तय कर रखा था कि झूठ नहीं बोलेंगे, सच-सच बता देंगे कि प्रोफेसर प्रणव कुमार हिंदू हैं, प्रोफेसर समीरा खान मुसलमान और दोनों ने प्रेम-विवाह किया है। हमारे मित्रों का भी यही कहना था, "पहले से बता देना ठीक है, ताकि बाद में पता चलने पर अचानक मकान खाली न करना पड़े।"

उन दिनों प्रणव अपनी पुस्तक 'राष्ट्र और राष्ट्रवाद' लिख रहे थे। राष्ट्र फैक्ट नहीं, एक फिक्शन है, इसे सिद्ध करने वाले तर्क और प्रमाण पश्चिमी देशों के इतिहासों में तो मिल रहे थे, प्रणव उन्हें भारतीय इतिहास में खोज रहे थे। उनके दिमाग में मकान खोजते समय भी इतिहास की खोजबीन चलती रहती थी। मुझसे और मित्रों से भी इसी पर चर्चा करते रहते थे।

एक दिन जब हम एक मकान मालिक से मुसलमानों के लिए दी गई गालियाँ सुनने के बाद लौट रहे थे, संयोग से तीनों कम्युनिस्ट पार्टियों के एक-एक कॉमरेड हमारे साथ थे। तीनों उस बदतमीज मकान मालिक को अच्छी तमीज सिखाकर आ रहे थे, लेकिन अब भी गुस्से में थे। उनका ध्यान बँटाने के लिए प्रणव ने बात इतिहास और राजनीति की ओर मोड़ दी। बातें चलीं, तो धर्म, जाति, रंग, नस्ल, भाषा आदि से चलकर इस

प्रश्न पर आ पहुँचीं कि भारत की आजादी सच्ची थी या झूठी। भारत की स्वाधीनता एक फैक्ट है या फिक्शन?

एक कॉमरेड ने कहा, "जैसी आजादी जनता चाहती थी, या जनता को चाहिए थी, वैसी जब नहीं मिली, तब तो वह झूठी ही थी। नहीं तो क्या आजादी के इतने साल बाद भी देश की आधी से ज्यादा जनता भूख, गरीबी, बीमारी, बेरोजगारी वगैरह से बदहाल होती?"

दूसरे कॉमरेड ने कहा, "आजादी जैसी भी हो, गुलामी से बेहतर होती है। कौन कहेगा कि अँग्रेजों के राज में जनता की जो हालत थी, आजादी के बाद उससे बेहतर नहीं हुई है? इसलिए आजादी झूठी नहीं, सच्ची है।"

तीसरे कॉमरेड ने कहा, "जब तक समता, स्वतंत्रता, भाईचारे वाला सच्चा जनतंत्र और उससे आगे बढ़कर समाजवाद नहीं आ जाता, आजादी एक धोखा है, जो जनता को दिया जाता रहा है और दिया जाता रहेगा।"

प्रणव ने मुस्कराते हुए चुटकी ली, "समाजवाद के बारे में आप तीनों का क्या खयाल है? उसमें भी तो सच्चे और झूठे का सवाल है?"

कुछ समय पहले हमने नई कार खरीदी थी। प्रणव कार चला रहे थे और मैं उनके साथ वाली अगली सीट पर बैठी पीछे बैठे तीनों मित्रों से होती उनकी बातचीत चुपचाप सुन रही थी और ऊब रही थी, इसलिए मैंने तुकबंदी-सी करते हुए कहा, "थकान के मारे अपना बुरा हाल है। फिलहाल एक कप चाय का सवाल है।"

इस पर चारों मित्र ठहाका लगाकर हँसे और प्रणव ने ज्यों ही चाय की दुकान देखी, गाड़ी रोक दी। चाय पीते समय तय हुआ कि मकान किराए पर लेने के बजाय कहीं एक मकान किस्तों पर खरीद लिया जाए। एक कॉमरेड ने सुझाव दिया कि मकान किसी ऐसी नई कॉलोनी में लिया जाए, जहाँ रहने वाले लोग पड़ोसियों की निजी जिंदगी में ज्यादा दिलचस्पी न रखते हों। तीसरे कॉमरेड ने आश्वासन दिया कि वे कोई न कोई जुगाड़ लगाकर हमें ऐसा मकान किस्तों पर दिला देंगे।

चाय पीने के बाद तीनों कॉमरेड मित्र वहीं से विदा हो गए और हम दोनों घर की ओर चले। रास्ते में मैंने प्रणव से कहा, "जब ये तीनों सच्ची आजादी और सच्चा समाजवाद चाहते हैं, तो अलग-अलग पार्टियों में क्यों बँटे हुए हैं? मिल-जुलकर एक साथ काम क्यों नहीं करते? दुनिया भर के पूँजीपति मजदूरों के खिलाफ एकजुट हो रहे हैं और

दुनिया भर के मजदूरों को एक करने की बात करने वाले ये लोग मजदूरों को एकजुट करने के बजाय अपने-अपने नेतृत्व में बाँट रहे हैं!"

प्रणव ने जवाब नहीं दिया। वे किसी गहन चिंता या चिंतन में डूबे हुए थे।

कुछ दिन बाद हमें एक अच्छा-सा मकान किस्तों पर मिल गया। मकान नई-नई बसी एक अच्छी कॉलोनी में था और काफी बड़ा था। इकमंजिला, जिसके सामने लॉन और फूलों की क्यारियाँ थीं और पिछवाड़े की तरफ एक सर्वेंट क्वार्टर। सामने की चारदीवारी के पास जामुन का पेड़ था, जो बरसात के मौसम में खूब फलता था। दीक्षा को जामुन बहुत पसंद थे। अपने घर में ही जामुन का पेड़ पाकर वह बेहद खुश हुई।

हम अपने मकान में रहने गए, तो हमने अपनी कामवाली श्यामा से कहा कि वह और उसका पति भी हमारे साथ चलें। सर्वेंट क्वार्टर में रहें और श्यामा कई घरों में काम करने के बजाय हमारे ही घर में काम करे। श्यामा खुशी-खुशी राजी हो गई और अपने पति रामकुमार के साथ सर्वेंट क्वार्टर में रहने लगी। उसने दीक्षा और घर की सारी जिम्मेदारी सँभाल ली और जल्दी ही वह हमारे परिवार की सदस्य जैसी हो गई। दीक्षा को हमने घर के पास ही एक अच्छे स्कूल में दाखिल करा दिया। मैं और प्रणव पहले की तरह अपने पठन-पाठन और लेखन में व्यस्त हो गए।

कुछ दिन बाद पता चला कि अम्मी बहुत बीमार हैं। हम लोग उन्हें देखने गए। उनकी हालत बहुत खराब थी। दो दिन बाद वे नहीं रहीं। अब्बू अकेले रह गए। मैंने प्रणव से कहा, "अब तो हम अपने मकान में हैं। अब्बू को अपने साथ रख सकते हैं?" प्रणव राजी हो गए और हम अब्बू को अपने घर ले आए।

लेकिन तभी एक ऐसी घटना घटी, जिसके घटित होने में हमारा कोई हाथ नहीं था और वह हमारे घर-परिवार में नहीं, हमारे देश में भी नहीं, बल्कि दूर किसी दूसरे देश में घटी थी, लेकिन उसने मेरे अब्बू की जान ले ली।

अब्बू सोवियत संघ को दुनिया का सबसे महान देश और लेनिन को दुनिया का सबसे महान क्रांतिकारी मानते थे। लेकिन वहाँ गोर्बाचेव के पेरेस्त्रोइका की आँधी चलते ही समझ गए थे कि यह आँधी बहुत कुछ उड़ा ले जाने वाली है। उनकी पार्टी के कॉमरेड भी येल्त्सिन की कारगुजारियों से बौखला गए थे। एक दिन, जब अब्बू हमारे साथ रह रहे थे, टेलीविजन पर समाचार देखते हुए हम सबने देखा कि मास्को में लेनिन की विशाल प्रतिमा तोड़कर गिराई जा रही है। अब्बू हाथों में अपना चेहरा छिपाकर फूट-फूटकर रो पड़े थे।

प्रणव के लिए सोवियत संघ का न रहना इस बात का प्रमाण था कि वह एक फिक्शन था। लेकिन अब्बू के लिए सोवियत संघ का न रहना उनकी जिंदगी का सबसे बड़ा सदमा था। उसे वे बर्दाश्त नहीं कर पाए और ऐसे बीमार पड़े कि फिर उठ ही नहीं सके।

नहीं, बुझने से पहले जैसे शमा की लौ एक बार तेज हो जाती है, उनमें भी जिंदगी की चमक और जीने की ललक दिखाई पड़ी थी। वे अस्पताल में थे। रोज की तरह एक दिन जब मैं प्रणव के साथ उन्हें देखने गई, तो वे स्वस्थ और चहकते-से मिले। तकियों के सहारे ऊँचे होकर अधलेटे-से बैठे हुए वे अपने दो-तीन कॉमरेडों से बातचीत कर रहे थे। हमें देखकर खुश हुए और खुशी-खुशी उन्होंने हमें बताया कि अगले हफ्ते तीनों कम्युनिस्ट पार्टियों ने मिलकर एक आम सभा बुलाई है, जिसमें सोवियत संघ के विघटन पर विचार किया जाएगा और तय किया जाएगा कि आगे क्या करना है। उन्होंने कहा, "मेरा यही सपना था कि हिंदुस्तान की कम्युनिस्ट पार्टियाँ मिलकर एक हो जाएँ। सोवियत संघ गया तो गया, मेरा यह सपना पूरा होने जा रहा है। मैं तो बीमार पड़ा हूँ, जा नहीं पाऊँगा, मगर तुम लोग जरूर जाना और दीक्षा बिटिया को भी जरूर साथ ले जाना, ताकि वह अपने देश के कम्युनिस्टों के एक होने की ऐतिहासिक घटना की चश्मदीद गवाह बन सके।"

फिर उन्होंने अपने साथियों से कहा, "मैं ठीक होता, तो वहाँ कुछ बातें कहता। उन बातों को मैं यहीं आप लोगों के सामने कह रहा हूँ। इन्हें आप लोग वहाँ खुद कह दें या किसी और से कहला दें।"

साथियों में से एक ने कहा, "क्यों नहीं, प्रोफेसर प्रणव यहाँ हैं, प्रोफेसर समीरा यहाँ हैं। आप इन्हें बता दीजिए, ये आपकी बातें वहाँ कह देंगे। हम इन दोनों को बाकायदा वक्ताओं के रूप में आमंत्रित करेंगे। बोलिए, आपको क्या कहना है?"

अब्बू ने कहा, "मेरे चार सुझाव हैं। सबसे पहले तो देश की सभी कम्युनिस्ट पार्टियों को मिलकर एक हो जाना चाहिए। दूसरे, कम्युनिस्टों को अपने संगठन और कामकाज के तरीकों को बदलना चाहिए। तीसरे, रूसी रास्ते या चीनी रास्ते पर चलने जैसी बातें छोड़कर अपना एक नया और अलग रास्ता बनाना चाहिए। चौथे, कम्युनिस्टों की रीति-नीति से असहमत और उनकी आलोचना करने वाले गैर-पार्टी वाम बुद्धिजीवियों को-जिनमें शिक्षक, लेखक, पत्रकार, इतिहासकार आदि बहुत-से लोग आते हैं - कम्युनिस्ट आंदोलन में शामिल करना चाहिए।"

उस समय दीक्षा नौ साल की थी। मैं और प्रणव उसे साथ लेकर उस आम सभा में गए। हमने चकित होकर देखा कि अब्बू भी अस्पताल से विशेष अनुमति लेकर व्हील चेयर

पर बैठकर आए हैं। उनके साथियों ने उनकी कुर्सी हॉल की सबसे अगली कतार में एक कोने पर लगा दी और हम लोगों को उनके पास वाली कुर्सियों पर बिठा दिया। हम दोनों को बोलने के लिए बुलाया गया था, लेकिन हमें मंच पर अन्य वक्ताओं के साथ नहीं बिठाया गया।

शायद कॉमरेडों ने यह फैसला कर लिया था कि अब्बू की बातें पार्टी की रीति-नीति के खिलाफ हैं, उन्हें मंच से नहीं कहा जाना चाहिए। नतीजा यह हुआ कि मुझे और प्रणव को तो बोलने के लिए नहीं ही बुलाया गया, अब्बू के कई बार हाथ उठाकर बोलने की अनुमति माँगने पर भी उन्हें अनदेखा कर दिया गया।

हम बहुत क्षुब्ध होकर वहाँ से अब्बू के साथ अस्पताल गए। उन्होंने हम दोनों से क्षमा माँगी और अपना क्षोभ व्यक्त करते हुए बोले, "आज मैंने देख लिया कि वाम एकता का मेरा सपना कभी पूरा नहीं होगा। ये लोग 'नौ कनौजिया तेरह चूल्हे' वाली कहावत को सही साबित करते हुए वही करते रहेंगे, जो करते आए हैं और कमजोर होते गए हैं।"

अगले दिन अब्बू अस्पताल में ही चल बसे।

मित्रो, माँ की आत्मकथा का यह अंश सुनकर आप जान गए होंगे कि मेरे माता-पिता का निजी जीवन और मेरा बचपन कैसा था। अब मैं अपनी बात कहूँगी और अपनी बात यहाँ से शुरू करूँगी कि माँ और पापा में बहुत-सी समानताएँ थीं, लेकिन भिन्नताएँ भी कम नहीं थीं। माँ स्वयं को, पापा को, अपने परिवार को और हम सबके भविष्य को असुरक्षित समझती थीं। इसलिए वे हमेशा आशंकित और डरी-डरी-सी रहती थीं। दूसरी तरफ पापा एक निर्भीक और साहसी व्यक्ति थे। माँ ने आत्मकथा में जो लिखा है, उससे ऐसा लगता है कि पापा ने प्रेम के कारण उत्पन्न परिस्थिति के दबाव में एक मुसलमान लड़की से शादी की। मगर पापा ने मुझे कई बार और विस्तार से बताया था कि उनका इरादा ही ऐसी शादी करने का था।

पापा हिंदुओं के उन शुभ कहलाने वाले विवाहों को सख्त नापसंद करते थे, जिनमें पति-पत्नी का, खास तौर से पत्नी का, अशुभ करने वाली तमाम चीजें भरी होती थीं, जैसे जात-पाँत, ऊँच-नीच, दान-दहेज वगैरह। वे जानते थे कि दूसरे धर्मों के अंदर होने वाले विवाहों में भी कमोबेश यही होता है, इसलिए विवाह के किसी भी पारंपरिक रूप को वे उचित नहीं मानते थे। उनका विचार था कि प्रेम और केवल प्रेम के आधार पर किया जाने वाला विवाह ही सामाजिक कुरीतियों का एक बेहतर जवाब हो सकता है। इसलिए पापा का निश्चय था कि प्रेम-विवाह ही करेंगे और हो सका, तो जाति-धर्म के

बंधन तोड़कर करेंगे। इसी बात पर वे अपने माता-पिता और बहन-भाइयों से लड़े थे, घर छोड़कर निकल पड़े थे और मेरी माँ से शादी करते समय उन्हें मालूम था कि एक मुसलमान लड़की से शादी करने पर उनके सब लोग उनसे नाते-रिश्ते तोड़कर उन्हें अकेला छोड़ देंगे। लेकिन, जैसा मैंने कहा, पापा निडर और साहसी थे। कठिन से कठिन परिस्थिति में भी उनका एक ही कहना होता था, "जो होगा, देखा जाएगा।"

दूसरी भिन्नता माँ और पापा के बीच यह थी कि माँ महत्वाकांक्षी थीं, जबकि पापा महत्वपूर्ण कार्य करने में विश्वास करते थे। माँ सफलता को बहुत महत्व देती थीं, जबकि पापा सफलता-असफलता की परवाह नहीं करते थे। यह और बात है कि उन्हें अपने कार्यों से सफलता सहज ही मिल जाती थी, जबकि माँ को उसके लिए प्रयास करना पड़ता था। माँ को यह बात कचोटती थी कि पापा अपनी पी-एच.डी. की थीसिस से बनी पुस्तक 'शीतयुद्ध का इतिहास' से विश्वविख्यात इतिहासकर बन गए थे, जबकि माँ की पी-एच.डी. की थीसिस से बनी पुस्तक 'भारतीय वामपंथ' छप तो गई थी, लेकिन अंतरराष्ट्रीय तो दूर, राष्ट्रीय स्तर पर भी उसकी कोई खास चर्चा नहीं हुई थी। इससे माँ को बड़ी निराशा और तकलीफ होती थी। पापा ने माँ को समझाया कि पुस्तक लिख लेना तो अपने वश में होता है, किसी हद तक प्रकाशित करा लेना भी, लेकिन प्रसिद्ध होना अपने हाथ में नहीं होता। यश और प्रसिद्धि मिलने में बहुत दूर तक संयोगों, परिस्थितियों, संबंधों, संपर्कों आदि के अलावा बाजार का अदृश्य हाथ भी होता है। भारतीय वामपंथ शीतयुद्ध जैसा विवादास्पद और बिकाऊ विषय नहीं था। इतना ही नहीं, इतिहास के क्षेत्र में जमे बैठे बहुत-से लोगों के लिए तो वामपंथ नितांत अप्रिय विषय था। वे यही जानते और मानते थे कि भारत के स्वाधीनता आंदोलन में भारतीय वामपंथ की या तो कोई भूमिका थी ही नहीं, या कुछ थी, तो नकारात्मक थी। माँ ने पापा के निर्देशन में जो शोध किया था, उसके आधार पर वामपंथ की सकारात्मक भूमिका दिखाई थी और उसे नकारात्मक बनाने वाले इतिहास के पुनर्लेखन की जरूरत बताई थी। लकीर के फकीर लोगों को यह बात बिलकुल नहीं भाई थी।

पापा ऐसे लोगों के बारे में माँ से कहा करते थे, "इन जड़ लोगों के लिए इतिहास एक ऐसी पवित्र नदी है, जो प्रदूषित होने पर भी पूज्य है। वे उसमें नहा-धोकर अपने शरीर और कपड़ों का मैल उसमें डालते हैं। वे उसके किनारे अपने मुर्दे जलाकर उनकी राख और हड्डियाँ उसमें डालते हैं। वे अपने देवी-देवताओं की मूर्तियाँ उसमें विसर्जित करके उनका कचरा उसमें डालते हैं। वे अपनी बस्तियों के गंदे नाले और कारखानों के जहरीले पदार्थ उसमें डालते हैं। इस तरह नदी को प्रदूषित करने में उसकी पवित्रता की

परवाह उन्हें नहीं होती। लेकिन कोई उस नदी को साफ करने चले, तो उन्हें तुरंत नदी की पावनता की रक्षा करने की याद आ जाती है। ऐसे ही लोगों के कारण तुम्हारी किताब का उचित मूल्यांकन नहीं हो पाया।"

यह उन दिनों की बात है, जब इतिहास के पठन-पाठन की दुनिया में भारी उथल-पुथल मची हुई थी। पिछली सरकार के समय इतिहास की कई पुरानी पुस्तकों का पुनर्लेखन कराया गया था और कई नई किताबें पाठ्यक्रमों में लगाई गई थीं। अब नई सरकार उन पुस्तकों को पाठ्यक्रमों से निकलवा रही थी, उनकी जगह या तो पुरानी ही पुस्तकें लगवा रही थी या अपने ढंग से नई पुस्तकें लिखवा रही थी। अनेक इतिहासकार इससे रुष्ट और क्षुब्ध थे, इसका विरोध कर रहे थे, लेकिन उनका विरोध बेअसर साबित हो रहा था।

थोड़े ही दिन बाद पता चला कि पापा की शीतयुद्ध वाली पुस्तक ही नहीं, माँ की वामपंथ वाली पुस्तक भी पाठ्यक्रमों से हटा दी गई है। पापा तो केवल यह कहकर रह गए थे कि "यह तो होना ही था", लेकिन माँ चिंतित हो गई थीं, "अब क्या होगा?"

दरअसल माँ बचपन से ही अपने अब्बू और उनके साथियों से यह सुनती आई थीं कि धर्मनिरपेक्षता और समाजवाद के सिद्धांतों पर चलकर ही देश में शांति और सद्भाव का बने रहना संभव है और मुसलमान शांति और सद्भाव के माहौल में ही सुरक्षित रह सकते हैं। इसीलिए माँ इन मूल्यों की रक्षा करना जरूरी बताने वाली कांग्रेस की प्रशंसक और कम्युनिस्ट पार्टी की समर्थक थीं। मगर अब वे देख रही थीं कि धर्मनिरपेक्षता की जगह सांप्रदायिकता बढ़ रही है। समाजवाद का गढ़ सोवियत संघ ढह गया है और पूँजीवाद इसे अपनी जीत समझकर बगलें बजा रहा है। शांति और सद्भाव की जगह देश में ही नहीं, पूरी दुनिया में अशांति और वैरभाव का बोलबाला है। पहले उन्हें लगता था कि वे धर्मनिरपेक्षता और समाजवाद के कवच के भीतर सुरक्षित हैं, मगर अब उन्हें लगने लगा था कि वह कवच टूट गया है और वे पहले से कहीं अधिक वेध्य हो गई हैं।

पापा उन्हें समझाते थे, "न तो हमारा देश सच्चा धर्मनिरपेक्ष देश है, न सोवियत संघ ही सच्चा समाजवादी देश था। जब तक हमारे देश में समाज को बाँटने वाली और दुनिया में मानवता को बाँटने वाली व्यवस्था कायम है, तब तक न तो सच्ची धर्मनिरपेक्षता संभव है, न सच्चा समाजवाद। इसलिए देश और दुनिया को जरूरत है एक ऐसी विश्व व्यवस्था की, जिसमें स्त्री और पुरुष, ब्राह्मण और शूद्र, हिंदू और मुसलमान, गोरा और काला जैसे भेद करके लोगों को बाँटा और बाँटकर आपस में

लड़ाया न जाए। यह ऐतिहासिक जरूरत है, इसलिए दुनिया उसी विश्व व्यवस्था की तरफ जा रही है। उसके कायम होने में समय लगेगा, लेकिन एक दिन वह कायम होगी जरूर। इसलिए धीरज रखो और सोचो कि ऐसी विश्व व्यवस्था कैसे कायम की जा सकती है और हम उसके लिए क्या कर सकते हैं।"

माँ को पापा की ये बातें सैद्धांतिक रूप से सही, किंतु अव्यावहारिक लगती थीं। उन्होंने एक दिन चिंतित स्वर में पापा से कहा, "सुनो, आज हमारी किताबें पाठ्यक्रमों में से निकाली गई हैं, कल को हमें नौकरी से भी निकाला जा सकता है। कुछ लोग तो यहाँ तक कहते हैं कि मुसलमानों और कम्युनिस्टों पर कभी भी कोई कहर टूट सकता है...।"

पापा ने जरा ऊँची आवाज में कहा, "बकवास है! ऐसा कुछ नहीं होने वाला। और हुआ भी, तो तब की तब देखी जाएगी। अभी से तुम क्यों परेशान हो?"

माँ ने कहा, "अपने विभाग के ही कुछ लोग कह रहे हैं कि धर्मनिरपेक्षता और समाजवाद की दृष्टि से इतिहास का पुनर्लेखन बहुत हो चुका। वे कह रहे हैं कि अब हम वामपंथी हैं न दक्षिणपंथी, हम केवल इतिहासकार हैं और ऐसी किताबें लिखेंगे, जो दुनिया भर के बाजारों में बिकें और तमाम विश्वविद्यालयों में पढ़ाई जाएँ। वे मुझे भी यही सलाह दे रहे हैं कि मैं भी ऐसी ही कोई पुस्तक लिखूँ और उसे भारतीय प्रकाशक से नहीं, किसी बड़े विदेशी प्रकाशक से प्रकाशित कराऊँ।"

"लेकिन यह तो वर्तमान व्यवस्था से समझौता कर लेना, अपने काम को भूल जाना और स्वयं को बाजार के हवाले कर देना हुआ।" पापा ने माँ को समझाते हुए कहा, "तुम इतिहास के पुनर्लेखन वाले काम को ही आगे बढ़ाओ। उसमें अभी बहुत काम करने की गुंजाइश है और बहुत आगे बढ़ने की संभावनाएँ हैं। फिर यह काम पढ़ने-पढ़ाने के लिहाज से ही नहीं, देश और दुनिया को बदलने के लिहाज से भी बहुत जरूरी है। भारतीय वामपंथ पर तुम्हारा काम बहुत अच्छा है। अब तुम वैश्विक वामपंथ पर एक किताब लिखो। मैं उसमें भरसक तुम्हारी सहायता करूँगा।"

माँ ने पापा की बात मान तो ली, मगर पूरी तरह आश्वस्त नहीं हुईं। पापा ने उन्हें समझाया, "देखो, इतिहासकार होना किसी विषय पर शोध करके एक नई-सी और पाठ्यक्रमों में पढ़ाई जाने लायक पुस्तक लिख लेना नहीं है। इतिहास चाहे पुराना हो या नया, एक जीवंत शक्ति के रूप में लोगों को प्रेरित और प्रभावित करता है। लेकिन यह काम अच्छा इतिहास ही कर सकता है। इसलिए ऐसा इतिहास लिखो, जो हमें

अपने अतीत को जानने, वर्तमान को समझने और भविष्य को बनाने में समर्थ बनाए।"

माँ ने प्रतिवाद किया, "जिसे तुम अच्छा इतिहास कहकर पढ़ते और पढ़ाते रहे हो, उसका हाल देख रहे हो? पुरानी सरकार को वह पसंद था, इसलिए पढ़ा और पढ़ाया जा रहा था। नई सरकार उसे पाठ्यक्रमों से निकाल रही है। उसके इस कदम का विरोध हो रहा है, मगर वह परवाह नहीं कर रही है। इतिहास का पाठन-पाठन राजनीतिक लड़ाई का मैदान बन गया है। मगर होगा वही, जो नई सरकार चाहेगी। तुम्हारे अच्छे इतिहास को पाठ्यक्रमों से निकालकर कूड़ेदान में फेंक दिया जाएगा। मुझे अपनी यह नियति मंजूर नहीं।"

पापा ने मुस्कराते हुए कहा, "तो ठीक है, जो तुम्हें मंजूर हो, वही करो।" मगर माँ उनसे बहस करने लगीं, "देखो, दुनिया बदल रही है। हमें भी उसके मुताबिक बदलना चाहिए। हमें पढ़ाना तो वही इतिहास पड़ेगा, जो पाठ्यक्रम में लगा होगा। और पाठ्यक्रम में कैसी किताबें लग रही हैं, तुम देख रहे हो। मैंने तो सोच लिया है कि मैं ऐसी किताबें लिखूँगी, जो पाठ्यक्रमों में पढ़ाई जाएँ। मैं तुम्हारी तरह आदर्शवादी नहीं हूँ। मैं किताबें लिखकर पैसा कमाना चाहती हूँ।"

पापा ने हँसते हुए पूछा, "हम दोनों की अच्छी-खासी नौकरी है और संतान के नाम पर एक ही बेटी। हमें क्या करना है ज्यादा पैसा कमाकर?" माँ ने उत्तर दिया, "मैं चाहती हूँ कि दीक्षा को बाहर भेजकर पढ़ाऊँ। इसके लिए बहुत पैसा चाहिए।" पापा ने पूछा, "दीक्षा को बाहर भेजकर ही पढ़ाना क्यों जरूरी है?" माँ ने कहा, "मैं चाहती हूँ कि पढ़-लिखकर वह बाहर ही कहीं बस जाए।

माँ मेरे भविष्य को लेकर कुछ ज्यादा ही चिंतित थीं। उन्होंने खुद तो प्रेम-विवाह किया था, लेकिन मुझे प्रेम की हवा भी नहीं लगने देना चाहती थीं। पापा का एक शोध छात्र बसंत उनसे मिलने घर आया करता था। मैं उससे उम्र में लगभग उतनी ही छोटी थी, जितनी माँ पापा से। उन दिनों मैं अपने तन और मन में हो रहे परिवर्तनों से एक ही साथ भयभीत और आनंदित रहती थी। बसंत मुझे अचानक और अकारण अच्छा लगने लगा था। उसके आते ही मैं खिल उठती थी। जितनी देर वह घर में रहता-पापा के पास बैठक में या उनकी स्टडी में - मैं किसी न किसी बहाने उसके आस-पास मँडराती रहती। ऐसा अवसर न मिलता, तो कहीं छिपकर उसे दूर से ही देखती रहती और खुश होती रहती। नितांत अतार्किक ढंग से मुझे बसंत ऋतु सबसे प्रिय हो गई थी। इतनी प्रिय कि फिल्म या टी.वी. देखते समय, कोई कहानी या उपन्यास पढ़ते समय,

या किसी की बातचीत में ही बसंत शब्द आ जाता, तो मैं रोमांचित हो उठती थी। अपने घर के बगीचे या स्कूल के अहाते में खिले हुए फूलों को देखती, तो मन होता कि बसंत-बसंत गाते हुए नाचने लगूँ।

माँ ने एक-दो बार टोका, एक-दो बार डाँटा, फिर एक बार प्यार से भी समझाया कि मैं अपनी पढ़ाई-लिखाई पर ध्यान दूँ। मगर बसंत के प्रति मेरा आकर्षण कम ही नहीं होता था। उसके आते ही मैं माँ की सारी टोका-टाकी, डाँट-फटकार और समझाइशें-हिदायतें भूल जाती थी। खास तौर से तब, जब माँ घर में न होतीं।

एक दिन माँ घर में नहीं थीं। बसंत आया हुआ था और पापा के साथ बैठक में बैठा था। श्यामा रसोईघर में चाय बना रही थी। वह जब चाय की ट्रे लेकर रसोईघर से निकली, मैंने उसके हाथ से ट्रे ले ली और बैठक में जाने लगी। उसी समय माँ ने घर के अंदर आते हुए मुझे श्यामा के हाथ से ट्रे लेते देख लिया। उन्होंने मुझे आँखें तरेरकर देखा और कहा, "नहीं! ट्रे वापस दो श्यामा को! वही लेकर जाएगी।"

फिर, उसी दिन, जब बसंत चला गया, उन्होंने पापा से कहा, "सुनो, लड़कों को घर मत बुलाया करो, लड़की बड़ी हो रही है।" पापा हँसकर बोले, "अरे भई, अभी से कहाँ बड़ी हो गई!" लेकिन माँ ने तेज-तीखे स्वर में कहा, "मैंने कह दिया न! अब कोई लड़का घर में नहीं आएगा।" पापा ने फिर हँसते हुए कहा, "मैंने तो तुम से कितना कहा था कि दीक्षा का एक भाई और आने दो। तुम ही अड़ गई कि एक ही बच्चा बहुत है। चलो, यह तुम्हारा फैसला था, तुम्हारा अधिकार था, मगर मेरे छात्र मेरे घर न आएँ, यह कैसे...?" पापा अपनी बात पूरी भी नहीं कर पाए थे कि माँ ने लगभग चिल्लाते हुए कहा, "घर सिर्फ तुम्हारा नहीं, मेरा भी है। मेरी बेटी की भलाई किस में है, मैं तुमसे ज्यादा जानती हूँ। तुम अपने छात्रों से विभाग में मिलो या कहीं और, घर में कोई लड़का नहीं आएगा।"

और इसके बाद का एक दिन तो मैं कभी नहीं भूल सकती। तीसरे पहर का समय था। पापा घर पर नहीं थे। माँ अपने कमरे में थीं और मैं अपने कमरे में स्कूल से मिला होम वर्क कर रही थी। अचानक दरवाजे की घंटी बजी। श्यामा ने दरवाजा खोला। माँ ने अपने कमरे से ही पूछा, "कौन है?" श्यामा ने उत्तर दिया, "बसंत भैया।" यह सुनते ही मैंने अपनी किताब-कापी परे फेंकी और दौड़ी। मगर मैं अपने कमरे के दरवाजे पर ही पहुँची थी कि देखा, माँ घर के मुख्य दरवाजे पर पहले ही पहुँच चुकी हैं और बाहर खड़े बसंत से कह रही हैं, "उनसे विभाग में ही मिला करो, यहाँ मत आया करो।" माँ का यह कहना और भड़ाक से दरवाजा अंदर से बंद कर लेना मुझे आज तक ऐसे याद है, जैसे

बसंत की जगह मैं ही दरवाजे के बाहर खड़ी थी और माँ ने मेरे ही मुँह पर दरवाजा भड़ाक से बंद किया था।

उस दिन माँ ने जो बात कही थी, और जिस स्वर में कही थी, मैं कभी नहीं भूल सकती। उन्होंने कहा था, "पहले पढ़-लिखकर कुछ बन लो, तब स्वयंवर रचा लेना। बाप हिंदू, माँ मुसलमान। वैसे ही शादी में हजार मुश्किलें आएँगी। कुछ गलत हो गया, तब तो अल्लाह ही जाने तुम्हारा क्या होगा!"

माँ चाहती थीं कि मुझे अमरीका भेजकर पढ़ाएँ, लेकिन पापा ने मना कर दिया। कहा, "हमारी एक ही संतान है। उसे भी हम खुद से अलग करके दूर भेज देंगे, तो यहाँ किसका मुँह देखकर जिएँगे? नहीं, दीक्षा यहीं रहकर पढ़ेगी।"

माँ किसी तरह मान गई। लेकिन मेरे भविष्य को लेकर चिंतित बनी रहीं। वे चाहती थीं कि मैं इतिहास में ही एम.ए., पी-एच.डी. करूँ और उनकी तरह इतिहास की प्रोफेसर बनूँ। उनका विचार था कि सुरक्षित जीवन जीने के लिए स्थायी नौकरी जरूरी है और माता-पिता दोनों इतिहास वाले हैं, इसलिए इतिहास पढ़ने पर मुझे नौकरी मिलने में सुविधा होगी। मगर मैंने कहा, "आजकल स्थायी नौकरी में जिंदगी भर सड़ना कौन चाहता है? मैं तो एम.बी.ए. करूँगी और प्राइवेट सेक्टर में काम करूँगी, जहाँ आगे बढ़ने के मौके ही मौके हैं।"

मेरा यह फैसला सामान्य स्थिति में शायद उन्हें स्वीकार्य न होता, लेकिन उन दिनों हमारे घर में स्थितियाँ असामान्य बनी हुई थीं। माँ और पापा दो भिन्न और विपरीत दिशाओं में जा रहे थे।

माँ कहतीं, "तुम्हारे साथ के तमाम लोग विजिटिंग प्रोफेसर होकर विदेश जाते हैं, तुम क्यों नहीं जाते?" पापा कहते, "उन्हें वहाँ जाना जरूरी लगता होगा, मुझे नहीं लगता।" माँ पूछतीं, "क्यों?" पापा उत्तर देते, "हर किसी की अपनी प्राथमिकताएँ होती हैं।" माँ कटाक्ष करतीं, "तुम्हारी प्राथमिकता कुएँ का मेंढक बने रहना है?" पापा गंभीरता से उत्तर देते, "किताबें कुआँ नहीं होतीं और उनमें डूबकर कहीं भी जाया जा सकता है। आज की ही नहीं, कल की और आने वाले कल की दुनिया में भी।" माँ झुँझलाकर कहतीं, "तुम तनिक भी महत्वाकांक्षी नहीं हो। क्यों नहीं हो?" पापा मुस्कराते हुए कहते, "महत्वाकांक्षा एक प्रकार की गुलामी है। उन लोगों की गुलामी, जो आपको महत्व देते हैं या दे सकते हैं। फिर, महत्वाकांक्षा एक दौड़ की होड़ है, जिसमें आगे निकलने के लिए आप निहायत गैर-जरूरी समझौते करते हैं, निरर्थक लड़ाइयाँ लड़ते

हैं और फिर भी कभी निश्चिंत नहीं रह पाते कि आप आगे निकल ही जाएँगे; जहाँ पहुँचना चाहते हैं, पहुँच ही जाएँगे; जो पाना चाहते हैं, पा ही लेंगे!"

माँ कहतीं, "तुम कुछ भी कहो, जिंदगी एक दौड़ की होड़ ही है। जो आगे निकल जाते हैं, वे ही इतिहासों में जाते हैं।" पापा कहते, "वे इतिहास ही गलत होते हैं, जिनमें वे जाते हैं।" माँ तीखे स्वर में कहतीं, "मतलब, महान लोग महान नहीं होते?" पापा हँसकर कहते, "नहीं, महान लोग तो महान होते हैं, लेकिन यह देखो कि वे किस प्रक्रिया में महान बनते हैं। किसी को महान बताने के लिए कहा जाता है कि वह तो लाखों में एक है। यानी वह लाखों को पीछे छोड़कर अकेला महान बना। इतिहास ने उसे अपने अंदर रख लिया और बाकी लाखों को बाहर छोड़ दिया। क्या कोई इतिहासकार दावे से कह सकता है कि वे लाखों लोग महान नहीं थे या अनुकूल परिस्थितियों में महान नहीं बन सकते थे?"

पापा की ऐसी बातें सुन माँ उन्हें पागल समझती थीं, लेकिन सभ्य भाषा में स्वयं को यथार्थवादी और पापा को आदर्शवादी कहती थीं। माँ के विचार से वे हमेशा कोई न कोई आदर्शवादी पागलपन करते रहते थे। माँ इसके तीन उदाहरण दिया करती थीं - पहला - पापा ने जब पढ़ाना शुरू किया था, इतिहास की अच्छी किताबें हिंदी में बहुत कम होती थीं, जबकि उनके छात्र ज्यादातर हिंदी माध्यम वाले होते थे, जिनके लिए अँग्रेजी की महँगी किताबें खरीदना और फिर उन्हें पढ़ना-समझना मुश्किल होता था। यह देखकर पापा ने हिंदी में नोट्स बनाकर छात्रों में बाँटना शुरू किया और बाद में उन्हीं नोट्स के आधार पर हिंदी में इतिहास की पाठ्यपुस्तकें तैयार कीं। उनकी पुस्तकें खूब छपीं और खूब बिकीं, लेकिन पापा ने उनसे एक पैसा नहीं कमाया। वे प्रकाशकों से कह देते थे, "मुझे रॉयल्टी मत दो, पर किताब की कीमत कम रखो, जिससे गरीब छात्रों को किताब खरीदने में आसानी हो।"

दूसरा पापा ने भारतीय विश्वविद्यालयों में इतिहास की उच्च शिक्षा अँग्रेजी की जगह भारतीय भाषाओं में ही दिए जाने की माँग की और इसके लिए एक आंदोलन चलाया। जब यह आपत्ति की गई कि भारतीय भाषाओं में इस काम के लिए अच्छी पुस्तकें ही नहीं हैं, तो पापा ने देश भर में घूम-घूमकर इतिहास के शिक्षकों को अपनी-अपनी भाषा में उच्चस्तरीय पुस्तकें लिखने और दूसरी भाषाओं से अनुवाद करने के लिए प्रेरित किया। जब देखा कि एक व्यक्ति पूरी पुस्तक लिखने में असमर्थ है, तो ऐसे लोगों से उन्होंने लेख लिखवाए और उनके संकलन स्वयं संपादित करके प्रकाशित कराए। इस प्रकार जो पुस्तकें तैयार हुईं, उनकी रॉयल्टी उन्होंने संकलित लेखों के

लेखकों में बाँट दी, स्वयं एक पैसा नहीं लिया। आज वे पुस्तकें भारत के ही नहीं, कई दूसरे देशों के विश्वविद्यालयों में भी पढ़ाई जाती हैं।

तीसरा - पापा ने जब भारतीय भाषाओं में इतिहास की शिक्षा के लिए आंदोलन चलाया था, उनका ध्यान इस बात पर गया कि इतिहास के क्षेत्र में होने वाला शोध कार्य अधिकतर अँग्रेजी में और अँग्रेजी में उपलब्ध स्रोत सामग्री के आधार पर ही होता है। मूल स्रोतों तक जाने की न तो जरूरत समझी जाती है और न उनको पढ़ने-समझने की क्षमता ही लोगों में है। मसलन, प्राचीन भारत का इतिहास लिखने वाले वेद, पुराण, उपनिषद आदि मूल में नहीं, अँग्रेजी अनुवादों में ही पढ़ते हैं। संस्कृत में लिखा वे पढ़-समझ नहीं सकते। प्राकृतों और अपभ्रंशों के बारे में तो वे कुछ जानते ही नहीं हैं। इसी तरह मध्यकालीन भारत का इतिहास लिखने वाले अरबी-फारसी नहीं जानते और आधुनिक भारत का इतिहास लिखने वाले भारतीय भाषाओं में उपलब्ध साहित्य को, खास तौर से बोलियों में उपलब्ध लोकसाहित्य को इतिहास-लेखन की स्रोत सामग्री नहीं मानते। पापा ने इसके लिए इतिहास के पाठ्यक्रमों में परिवर्तन के साथ-साथ शोध की प्रणाली में भी परिवर्तन की माँग उठाई।

माँ को पापा की यह माँग पागलपन की पराकाष्ठा प्रतीत हुई। उन्होंने पापा को समझाया, "अब तक तुमने जो पागलपन किए, खुद को और अपने परिवार को नुकसान पहुँचाकर किए, इसलिए उनमें तुम किसी हद तक कामयाब हो गए। मगर यह तो दूसरों को भी नुकसान पहुँचाने वाला पागलपन है। क्या तुम्हें यह नहीं मालूम कि इतिहास के क्षेत्र में नीचे से ऊपर तक सब लोग तुम्हारे खिलाफ हो चुके हैं? इतिहास की शिक्षा अँग्रेजी में ही दिया जाना जारी रखना चाहने वाले लोग तो पहले ही तुम्हारे विरोधी बन चुके थे - और तुम जानते हो कि वे सब बड़े लोग हैं, ताकतवर लोग हैं, इसलिए उनके पीछे बहुत बड़ी जमात है, बल्कि पूरी एक लॉबी है, और फिर सरकार उनकी मुट्ठी में है, पूरी शिक्षा प्रणाली को नियंत्रित करने वाले लोग हैं वे - अब तुम्हारी इस माँग से तो बचे-खुचे लोग भी तुमसे नाराज हैं। यह माँग इतिहास पढ़ने-पढ़ाने वाले और शोध करने-कराने वाले सभी लोगों पर एक ऐसा बोझ डालने की कोशिश है, जिसे वे कभी नहीं उठाना चाहेंगे।"

मगर पापा पर जो धुन सवार हो जाती थी, उसे वे लाख समझाए जाने पर भी छोड़ते नहीं थे। पहले दो आंदोलनों में उन्हें जो सफलता मिली थी, उसके अनुभव से वे उत्साहित थे और सोचते थे कि इस बार भी सफल होंगे। पहले के दोनों आंदोलनों में वामपंथी इतिहासकारों, शिक्षकों और छात्रों ने उनका साथ दिया था। मगर इस बार

पापा ने पाया कि उनका साथ देने वाला कोई नहीं है। यहाँ तक कि उनकी पत्नी प्रोफेसर समीरा खान भी नहीं!

एक दिन पापा से उन्होंने कहा, "तुम इतने प्रतिभाशाली और परिश्रमी होकर भी गुमनामी के रास्ते पर क्यों जा रहे हो? तुम्हारे साथ के लोग, यहाँ तक कि तुम्हारे बाद के लोग भी, तुम्हारी तुलना में बहुत कम और बहुत घटिया किस्म का काम करके भी तुम से आगे निकलते जा रहे हैं...।"

"वे दौड़ में हैं, भाई! उन्हें दौड़ना आता है!" पापा ने व्यंग्यपूर्वक कहा।

माँ व्यंग्य नहीं समझीं। बोलीं, "तुम समझते हो कि वे सब लकीर के फकीर हैं? समझौतापरस्त हैं? तिकड़मबाज हैं? मगर ऐसा नहीं है। सारी दुनिया इस दौड़ में शामिल है। हर किसी को दूसरों से आगे निकलना है। इसका तरीका भी सबको मालूम है - काम के लोगों से हमेशा संबंध बनाए रखो। ऊपर वालों को माई-बाप, बराबर वालों को यार-दोस्त और छोटों को चेला-चाँटी बनाकर अपनी ताकत बढ़ाओ और प्रतिद्वंद्वियों को पछाड़कर आगे निकल जाओ!"

"तो समझ लो कि मैं इस दौड़ से बाहर हूँ और बाहर ही खुश हूँ।" पापा ने कहा और माँ के सामने से उठकर अपनी स्टडी में चले गए।

पापा बिलकुल अकेले पड़ गए थे। लोग उन्हें सचमुच पागल समझने लगे थे। अकेले अपना आंदोलन तो वे क्या चला पाते, इतिहासकारों और इतिहास पढ़ने-पढ़ाने वालों की बिरादरी ने भी उन्हें काटकर अलग कर दिया था। विदेश यात्राओं पर जाने, सरकारी समितियों में रहने और गैर-सरकारी संस्थाओं से जुड़कर उनके लिए काम करने से तो वे पहले से ही इनकार करते आ रहे थे, लेकिन इतिहास से संबंधित सेमिनारों और सम्मेलनों में उत्साहपूर्वक भाग लेते आ रहे थे। अब वहाँ के बुलावे आने भी बंद हो गए।

उधर माँ पर एक और ही धुन सवार थी - विजिटिंग प्रोफेसर बनकर कहीं बाहर जाना है और वाम-दक्षिण का विचार छोड़कर एक ऐसी किताब लिखनी है, जो उन्हें विश्वविख्यात इतिहासकार बना दे। इसलिए वे बड़ी मेहनत से अपनी नई किताब 'दुनिया का इतिहास और इतिहास की दुनिया' लिख रही थीं और बाहर जाने के लिए प्रयास कर रही थीं।

अंततः वे विजिटिंग प्रोफेसर बनकर तीन साल के लिए पोलैंड चली गई। उनकी पुस्तक 'दुनिया का इतिहास और इतिहास की दुनिया' पूरी हो चुकी थी। उसकी पांडुलिपि वे अपने साथ ही ले गई। उन्हें अपने मित्रों और शुभचिंतकों की सलाह याद थी कि पुस्तक को पश्चिम के किसी बड़े प्रकाशक से प्रकाशित कराना है।

जाने से पहले माँ ने पापा से कहा था, "वैसे तुम हमेशा अपने ही मन की करते हो, मगर इस बार मेरी एक बात मान लो। मैं तीन साल बाहर रहूँगी। इस बीच दीक्षा का खास खयाल तुमको रखना है। हो सके, तो तीन साल की स्टडी लीव ले लो और आंदोलन-फांदोलन छोड़कर घर बैठो, अपना पढ़ो-लिखो। भूमंडलीकरण के इतिहास वाली जो किताब तुम लिखना चाहते हो, उसे शांति से बैठकर लिख डालो। जब तक मैं लौटूँगी, दीक्षा एम.बी.ए. कर चुकी होगी और तुम्हारी किताब पूरी हो चुकी होगी।"

और आश्चर्य, इस बार पापा ने माँ की बात तनिक भी ना-नुकुर किए बिना मान ली। वे तीन साल की छुट्टी लेकर अपनी नई किताब लिखने और मेरी देखभाल करने में व्यस्त हो गए।

माँ का घर-परिवार से अलग एक दूसरे देश में अकेले रहने का यह पहला अनुभव था। लेकिन अकेलेपन और अजनबीपन की जगह उन्हें ऐसा लगा, जैसे वे पापा से दूर जाकर उनके और ज्यादा निकट हो गई हैं। दिन में कई-कई बार फोन करतीं। कभी पापा को, कभी मुझे। कभी दोनों को एक साथ। अकेले में पापा से मेरे बारे में पूछतीं और मेरा ध्यान रखने के लिए कहतीं। मुझसे पापा के बारे में पूछतीं और पापा का ध्यान रखने के लिए कहतीं। जब दोनों से एक साथ बात करतीं, तो फोन करते ही स्पीकर ऑन करने के लिए कहतीं और वहाँ के अपने अनुभव सुनातीं।

एक दिन उन्होंने अपने अध्यापन का अनुभव बताते हुए कहा, "शीतयुद्ध खत्म नहीं हुआ। वह जारी है और यहाँ बड़े विचित्र रूप में जारी है। ज्यों ही मैं कक्षा में किसी मुद्दे पर बोलना शुरू करती हूँ, मेरे छात्र मानो दो खेमों में बँट जाते हैं - एक पूँजीवादी खेमा, एक समाजवादी खेमा। लेकिन विचित्र बात यह है कि पूँजीवाद के पक्षधरों को आज का पूँजीवाद पसंद नहीं है और समाजवाद के पक्षधरों को बीते कल का समाजवाद। दोनों को एक-दूसरे के पक्ष से शिकायत है, लेकिन अपने पक्ष से भी भारी शिकायतें हैं। मैं उनसे पूछती हूँ कि तुम्हारी शिकायतें कैसे दूर हो सकती हैं, तो दोनों ही पक्ष भविष्य की बात करने लगते हैं। 'जो है', उसकी आलोचना करने लगते हैं और 'जो होना चाहिए' उसकी आकांक्षा व्यक्त करने लगते हैं। सबसे विचित्र बात यह है कि वे अपनी

समस्याओं के समाधान अपने देश के शिक्षकों से नहीं, मुझसे माँगते हैं और कुछ इस अंदाज में माँगते हैं, मानो मैं बुद्ध की वंशज और गांधी की रिश्तेदार हूँ!"

फिर एक दिन उन्होंने बताया कि वे पढ़ाती और रहती तो वारसा में हैं, लेकिन उन्हें विभिन्न यूरोपीय विश्वविद्यालयों में व्याख्यान देने के लिए बुलाया जाता है। वहाँ के अखबारों और टी.वी. चैनलों के लिए भी वे एक महत्वपूर्ण भारतीय इतिहासकार बन गई हैं। वहाँ के लोग उनसे भारतीय इतिहास के बारे में ही नहीं, भारत के वर्तमान और भविष्य के बारे में भी तरह-तरह के प्रश्न पूछते हैं, जिनसे पता चलता है कि भारतीय सभ्यता, संस्कृति, समाज, राजनीति आदि के बारे में उनके अंदर कितनी प्रबल रुचि और जिज्ञासा है।

एक दिन उन्होंने यह भी बताया कि यूरोपीय देशों में उनके कई मित्र बन गए हैं, जो उनसे मिलने आते हैं और उन्हें अपने यहाँ बुलाते हैं। उनसे तरह-तरह की बातें और बहसें होती हैं और पता चलता है कि उनके दिमागों में भारत के बारे में बहुत-सी गलत और बेबुनियाद बातें भरी हुई हैं। इसके लिए इतिहास की वे पुस्तकें जिम्मेदार हैं, जो उनके देशों के इतिहासकारों ने ही नहीं, स्वयं भारतीय इतिहासकारों ने भी लिखी हैं। ऐसी ही एक चर्चा के दौरान माँ को पता चला कि पापा की शीतयुद्ध वाली पुस्तक से ही नहीं, राष्ट्र और राष्ट्रवाद वाली नई पुस्तक से भी वे लोग परिचित हैं और पापा के बारे में बहुत कुछ जानना चाहते हैं।

पापा ने एक दिन माँ से पूछा, "तुम जो किताब यहाँ से लिखकर ले गई थीं, उसके प्रकाशन का क्या हुआ?" माँ ने कहा, "यहाँ के अनुभवों की रोशनी में मैंने उस पांडुलिपि को पढ़ा, तो मुझे बड़ी शर्म आई। मैंने अमरीकी या यूरोपीय दृष्टि से लिखे जाने वाले इतिहासों की तर्ज पर दुनिया का इतिहास लिखा था और यह सोचकर लिखा था कि इसके प्रकाशित होने पर मैं इतिहास की दुनिया में छा जाऊँगी, लेकिन यहाँ आकर मुझे लगा कि दुनिया का इतिहास भविष्य की उस दुनिया को ध्यान में रखकर लिखना पड़ेगा, जो बननी चाहिए, बनाई जा सकती है और किसी हद तक बन भी रही है। और अचानक मैंने पाया कि यह तो मैं ठीक तुम्हारी तरह सोच रही हूँ और मुझे तुम पर ऐसा प्यार उमड़ा कि बता नहीं सकती।" पापा ने पूछा, "तो क्या किया उस पांडुलिपि का?" माँ ने कहा, "और क्या करती? फिर से लिख रही हूँ। किताब का नाम तो यही रखूँगी, लेकिन बाकी सब बदल दूँगी।"

पापा ने कुछ ऐसे भाव से "शाबाश!" कहा, जैसे वे अपनी पत्नी से नहीं, शिष्या से कह रहे हों। उधर से माँ ने कहा, "हम तो घर के जोगी को जोगना ही समझते रहे, आन

गाँव आकर पता चला कि वह तो सिद्ध है! सो, हे सिद्ध पुरुष, आप किसी दौड़ की होड़ में नहीं हैं, तो यही आपके लिए और हम सबके लिए ठीक है।"

माँ में आया यह बदलाव पापा को ही नहीं, मुझे भी बहुत अच्छा लगा।

इधर पापा के और मेरे जीवन में भी नए बदलाव हो रहे थे। मैं एम.बी.ए. करते ही दवाइयाँ बनाने और बेचने वाली एक अमरीकी बहुराष्ट्रीय कंपनी में मार्केटिंग एक्जीक्यूटिव के रूप में काम करने लगी थी और बहुत व्यस्त रहती थी। पापा की 'भूमंडलीकरण का इतिहास' वाली पुस्तक पूरी हो चुकी थी। उसे अपने लंदन वाले प्रकाशक के पास भेजकर वे खाली-खाली महसूस कर रहे थे। अकेले घर में पड़े रहने के बजाय उन्होंने बाहर निकलना शुरू कर दिया था। घर पर भी लोग उनसे मिलने आने लगे थे, जिनमें इतिहास पढ़ने-पढ़ाने वाले लोग ही नहीं, कई विभिन्न प्रकार के लोग भी होते थे - लेखक, पत्रकार, सामाजिक और राजनीतिक कार्यकर्ता आदि। मैं आम तौर पर व्यस्त रहती थी, लेकिन फुर्सत में होती, तो मैं भी उनके साथ होने वाली बातों-बहसों में शामिल हो जाती।

माँ साल में एक बार छुट्टियों में पोलैंड से आती थीं और जब तक रहतीं, मुझे खूब प्यार करतीं। उनके विचार से अब मैं बड़ी यानी प्रेम और विवाह करने लायक हो गई थी। वे बातों-बातों में टोह लेने की कोशिश करतीं कि क्या मेरा कोई प्रेम-प्रसंग चल रहा है। मैं इनकार करती, तो वे उदारतापूर्वक कहतीं, "अब या तो तुम खुद ही कोई लड़का ढूँढ़ लो, या हमें बता दो कि हम ढूँढ़ें।"

लेकिन पापा मेरी नौकरी के कारण चिंतित थे। एक बार मुझे कंपनी के काम से सिंगापुर जाना पड़ा। लौटी, तो फ्लाइट लेट हो जाने की वजह से रात के बारह बजे की जगह सुबह छह बजे घर पहुँची। सर्वेंट क्वार्टर में अपने पति और बच्चों के साथ रहने वाली श्यामा को सात बजे आना था और सुबह जल्दी उठ जाने वाले पापा अपने लिए चाय बना रहे थे। जब तक मैं हाथ-मुँह धोकर आई, वे बाहर लॉन में चाय लेकर पहुँच चुके थे। सुबह अभी पूरी तरह हुई नहीं थी, लेकिन उजाला होने लगा था। पापा बेंत की मेज के इर्द-गिर्द रखी बेंत की ही तीन कुर्सियों में से एक पर बैठे अभी-अभी आया अखबार देख रहे थे। मैं सामने आकर बैठी, तो अखबार उन्होंने खाली कुर्सी पर रख दिया और चाय बनाने लगे। हाल-चाल पूछकर उन्होंने एक प्याला मेरी ओर बढ़ाया और अपने प्याले में चीनी घोलते हुए बोले, "आज के अखबार में तुम्हारी कंपनी के बारे में छपा है कि उसकी चालीस प्रतिशत दवाइयाँ, जो तीसरी दुनिया के देशों में

धड़ल्ले से बेची जाती हैं, स्वास्थ्य के लिए घातक हैं और इसीलिए अमरीका में, जहाँ की यह कंपनी है, प्रतिबंधित हैं।"

दिन-रात अपनी कंपनी का गुणगान करके उसकी दवाइयों की मार्केटिंग करने वाली मैं हैरान रह गई, "अच्छा? मुझे नहीं पता।" पापा ने पूछा, "तो अब?" मैं नासमझ-सी बोली, "अब?" पापा ने फिर पूछा, "तुम इन्हीं दवाइयों की मार्केटिंग करती हो न?" अब मैं उनका अभिप्राय समझी और मैंने कहा, "हाँ, लेकिन मैं इसमें क्या कर सकती हूँ? मैं कंपनी में नौकरी करती हूँ। उसे यह बताना मेरा काम नहीं है कि वह कौन-सी दवाइयाँ बनाए, उन्हें कहाँ बेचे और कहाँ न बेचे। बताऊँ भी, तो क्या वह मेरी सुनेगी? उलटे, मुझे नौकरी से निकाल देगी।" पापा ने एक तीखी नजर मुझ पर डाली और कहा, "कंपनी दवा के नाम पर जहर बेचेगी, तो तुम अपनी नौकरी की खातिर जहर बेचती रहोगी?" मैं बौखलाकर बोली, "तो क्या करूँ? नौकरी छोड़ दूँ?"

पापा ने शांत स्वर में मुझे समझाते हुए कहा, "मैं नौकरी छोड़ने के लिए नहीं कह रहा हूँ। मैं इस बात पर विचार करने के लिए कह रहा हूँ कि हम जो कर रहे हैं, क्यों कर रहे हैं। किसलिए कर रहे हैं? किसके लिए कर रहे हैं? हम दवाइयों के नाम पर जहर बेचकर लोगों को मारते हैं। मिठाइयों के नाम पर जहर बेचकर लोगों को मारते हैं। शांति और सुरक्षा के नाम पर हथियार बेचकर लोगों को मारते हैं। प्रगति और विकास के नाम पर जलवायु का प्रदूषण और पृथ्वी का तापमान बढ़ाकर लोगों को मारते हैं। लेकिन सोचते नहीं कि हम क्या कर रहे हैं। या सोचते हैं, तो सिर्फ यह कि इसमें हमारा क्या दोष, हम तो अपनी नौकरी कर रहे हैं!"

"ये बातें मेरे मन में भी आती हैं, पापा, लेकिन..." मैंने कहा, तो पापा बीच में ही बोल उठे, "बस। इतना ही काफी है कि ये बातें तुम्हारे मन में आती हैं।" उस बात को वहीं समाप्त करके उन्होंने मुस्कराते हुए कहा, "थकी हुई आई हो, चाय पियो और आराम करो।"

लेकिन मेरे लिए आराम कहाँ था**?**

उन दिनों मैं अपने साथ काम करने वाले एक लड़के मयंक से प्रेम करने लगी थी। लेकिन वह कुछ अजीब किस्म का प्रेम था। मयंक उस उपभोगवादी और महत्वाकांक्षी मध्यवर्ग का युवक था, जिसके लिए उसका करियर, अतिसमृद्ध लोगों का-सा जीवन, कोठी-कार-नौकर-चाकर वाला रहन-सहन, परिवार की प्रत्येक इच्छा, जिद और जरूरत पूरी करने लायक धन और उसे कमाने के लिए जी-तोड़ परिश्रम कर

सकने वाला सदा स्वस्थ तन ही प्राथमिक और जरूरी था। शेष सब दोयम-सोयम दरजे का या गैर-जरूरी।

पुस्तकें पढ़ना, फिल्में देखना, संगीत सुनना, माता-पिता के साथ बैठकर बातें-बहसें करना, उनके साथ सैर-सपाटे के लिए हर साल यात्राओं पर जाकर ऐतिहासिक स्थलों को देखना, उनकी अचल-सचल फोटोग्राफी करना, फिर घर लौटकर उन जगहों के बारे में किताबें और नेट खँगालना - जो मेरा अब तक का जीवन, शौक और मुख्य मनोरंजन था - मयंक के लिए बेमानी था। राजनीति में तो उसे रत्ती भर रुचि नहीं थी, जबकि मेरे परिवार में जब तक ताजा समाचारों के आधार पर माता-पिता के बीच थोड़ी राजनीतिक नोक-झोंक न हो ले, उनका खाना ही हजम नहीं होता था। मैं मयंक से जब कोई राजनीतिक चर्चा करना चाहती, वह मुझे झिड़क देता, "राजनीति जैसी गंदी चीज में तुम्हारी इतनी रुचि क्यों है? मुझे तो राजनीति और राजनीतिक लोगों से सख्त नफरत है। लोकतंत्र ने इस देश के विकास को रोक रखा है। इस देश को तो एक तानाशाह चाहिए।"

मुझे मयंक के विचार पसंद नहीं थे, लेकिन मैं सोचती थी कि शादी के बाद मयंक को सही रास्ते पर ले आऊँगी। मैं अपने माता-पिता के प्रेम-विवाह के उदाहरण से और देखी हुई फिल्मों, सुनी हुई कहानियों और पढ़ी हुई किताबों के आधार पर यह मानकर चल रही थी कि प्रेम की परिणति प्रेम-विवाह में होती है। लेकिन मयंक मुझे पुरानी और नई पीढ़ी का अंतर बताया करता था, "देखो, हमारे माता-पिता बीसवीं सदी की स्थानीय पीढ़ी के लोग थे, जबकि हम इक्कीसवीं सदी की भूमंडलीय पीढ़ी के युवा हैं। हमारे माता-पिता स्थायित्व वाला जीवन जीने वाले लोग थे, जबकि हम अस्थायित्व को ही अपना जीवन मानकर चलते हैं। हमारे माता-पिता के लिए एक नौकरी, एक शादी, एक रुचि, एक राजनीति पूरा जीवन गुजार देने के लिए काफी होती थी। लेकिन हमारे लिए ऐसी सब चीजें, जो हमें कहीं बाँधकर रख दें, पैरों की बेड़ियाँ हैं, जिनको हमें तोड़ना ही है।"

मुझे क्या मालूम था कि वह मुझे भी अपने पैरों की बेड़ी मानता है**!**

एक दिन मुझे पता चला कि अपनी लापरवाही से मैं गर्भवती हो गई हूँ। मैं बेहद चिंतित और भयभीत हो गई। पापा को पता चला, तो क्या होगा? और माँ जब सुनेंगी? मुझे बरसों पहले कहे गए उनके शब्द याद हो आए - "पहले कुछ बन लो, तब स्वयंवर रचा लेना। बाप हिंदू, माँ मुसलमान। वैसे ही शादी में हजार मुश्किलें आएँगी। कुछ गलत हो गया, तब तो अल्लाह ही जाने, तुम्हारा क्या होगा!"

अगले दिन जब पापा घर पर नहीं थे और श्यामा दोपहर की छुट्टी में अपने क्वार्टर में थी, मैंने फोन करके मयंक को बुलाया। वह शायद फुर्सत में था, तुरंत चला आया। मैंने उसे बताया कि मैं गर्भवती हो गई हूँ, तो वह लापरवाही से बोला, "दिक्कत क्या है? एबॉर्शन करा ले!" मैंने कहा, "ठीक है, बच्चा अभी मैं भी नहीं चाहती, लेकिन मुझे इसका प्रमाण चाहिए कि प्रेम के नाम पर तू मेरा शोषण नहीं कर रहा था।" वह बौखलाकर बोला, "क्या प्रमाण चाहती है?" मैंने कहा, "शादी।" वह भड़क उठा, "शादी? और तुझसे?" मुझे उसका यह कहना बड़ा अपमानजनक लगा। मैंने कहा, "क्यों? तू मुझसे प्रेम नहीं करता?" वह बोला, "प्रेम? सेक्स की बात कर। सेक्स के लिए तू ठीक है, अच्छी है, लेकिन यह तूने कैसे सोच लिया कि मैं एक मुसल्ली की लड़की से शादी करूँगा?" मुझे इतना गुस्सा आया कि मैं उसे मारने के लिए झपटी। अगर उसकी गर्दन मेरे हाथों में आ जाती, तो मैं उसे सचमुच जान से मार देती। लेकिन वह डर गया। उठकर तेजी से मेरे कमरे से और दौड़कर घर के मुख्य दरवाजे से बाहर हो गया। मैं उसके पीछे दौड़ी, लेकिन वह जा चुका था। मैंने मुख्य दरवाजा वैसे ही भड़ाक से बंद किया था, जैसे कभी माँ ने बसंत के लिए किया था। वापस अपने कमरे में आकर मैं बिस्तर पर औंधे मुँह गिर पड़ी और फूट-फूटकर रोने लगी। पता नहीं, कब तक रोती रही। श्यामा ने आकर मुझे सँभाला और जैसे वह पहले से ही सब कुछ जानती हो, मुझे छाती से लगाकर बड़ी देर तक चुप कराती रही।

मैं चुप हुई, तो मुझे गुस्सा चढ़ आया। मैंने श्यामा से कहा, "मैं उसे जिंदा नहीं छोड़ूँगी।" श्यामा ने मुझे अपने से सटाकर मेरे सिर पर हाथ फेरते हुए समझाया कि चुपचाप गर्भपात करा देना और इस कांड को भूल जाना ही ठीक होगा। उसने कहा, "कुछ भी और करने में तुम्हारी ही फजीहत होगी, बिटिया!"

पापा के आने पर मैं उनसे लिपटकर एक बार फिर रोई और संक्षेप में पूरी बात बताकर कहा, "मयंक ने मुझे धोखा देने के साथ-साथ मेरा जो अपमान किया है, मैं उसका बदला लेकर उसे सबक सिखाना चाहती हूँ।" पापा ने पूछा, "कैसे? उसके घर जाकर उसके माता-पिता से या थाने जाकर पुलिस से उसकी शिकायत करोगी? या गुंडे भेजकर उसे पिटवाओगी? या कोई उपदेशक भेजकर उसे नैतिक उपदेशों से सुधरवाओगी? अच्छा, मान लो, इनमें से किसी भी तरीके से वह सुधरकर तुमसे शादी करने को तैयार हो जाए, तो क्या तुम उसे क्षमा करके उससे शादी कर लोगी? शादी करके भी क्या उसके द्वारा दिए गए धोखे और किए गए अपमान को भूल सकोगी?" मैंने कहा, "नहीं।" तो पापा बोले, "तो इसे किसी दुर्घटना में लगी चोट समझो, मरहम-पट्टी कराओ और स्वस्थ होकर चोट को भूल जाओ।" मुझे श्यामा की बात

याद आई, "कुछ भी और करने में तुम्हारी ही फजीहत होगी, बिटिया!" और मैंने पापा से कहा कि वे मुझे तुरंत किसी नर्सिंग होम में ले चलें, मुझे आज और अभी गर्भपात कराना है।

लेकिन गर्भपात कराने के बाद मैं कुछ समय के लिए अवसादग्रस्त हो गई थी। मानो जीने की इच्छा ही मर गई हो। मैंने नौकरी छोड़ दी और घर में ही पड़ी रहने लगी। न कहीं आती-जाती, न कुछ पढ़ती-लिखती। न टी.वी. देखती, न कंप्यूटर पर बैठती। न किसी को फोन करती, न किसी से चौट। अपना मोबाइल हमेशा बंद रखती और लैंडलाइन की घंटी बजती, तो बजने देती। पापा दिन-रात मेरी देखभाल करते। कुछ मनोचिकित्सक के बताए हुए तरीकों से और कुछ अपने द्वारा आविष्कृत उपायों से वे मुझे तन-मन से स्वस्थ बनाने में लगे रहते। माँ को दुख होगा और गुस्सा आएगा, यह सोचकर माँ को न उन्होंने कुछ बताया, न मुझे ही बताने दिया।

लेकिन अगली बार छुट्टियों में माँ पोलैंड से आई, तो मैंने उन्हें संक्षेप में सब कुछ बता दिया। तनिक भी भावुक हुए बिना, नितांत तथ्यात्मक ढंग से, जैसे मैं अपने बारे में नहीं, किसी और के बारे में बता रही थी। और आश्चर्य, माँ ने भी कोई आवेश या आवेग व्यक्त नहीं किया। बस, मुझे अपने से सटाया, मेरा सिर अपने कंधे पर रखकर सहलाया और प्यार से कहा, "अच्छा ही हुआ कि पहले ही उसका नकाब उतर गया। शादी के बाद उतरता, तो बहुत बुरा होता।"

मगर माँ के प्रयासों के बाद भी मेरी हँसी-खुशी नहीं लौटी। उनके वापस चले जाने के बाद तो मेरा अवसाद और बढ़ गया। पापा पहले की तरह मेरा मानसिक उपचार करने में लग गए।

एक दिन अचानक उन्होंने मुझसे पूछा, "मैं एक नई किताब लिखना शुरू कर रहा हूँ। उसके लेखन में तुम मेरी सहायता करोगी?" मैंने कहा, "मैं? कैसे?" तो बोले, "कल रात मैंने सोचा, यह किताब मैं किसके लिए लिख रहा हूँ? बूढ़ों के लिए तो नहीं न! अगर आज की और आने वाली पीढ़ियों के लिए लिख रहा हूँ, तो क्या मुझे यह जानने की कोशिश नहीं करनी चाहिए कि आज की नई पीढ़ी मेरे लिखे हुए के बारे में क्या सोचती है? फिर मैंने अपने-आप से कहा - संयोग से आजकल नई पीढ़ी की एक प्रतिनिधि घर में है और फुर्सत में है। उसे पढ़कर सुनाओ कि तुम क्या लिख रहे हो और उससे पूछो कि वह तुम्हारे लिखे के बारे में क्या सोचती है। इससे तुम दोनों को लाभ होगा।"

मुझे नहीं मालूम कि पापा को क्या लाभ हुआ, मगर मुझे सचमुच हुआ। शुरू-शुरू में अनमनेपन से, और यह समझने के कारण कि पापा मुझे मेरे अवसाद से उबारने का जतन कर रहे हैं, कुछ खीझ और विरोधभाव के साथ मैं चुपचाप लेटी हुई सुनती रहती। अपनी तरफ से कुछ न कहती। पापा के पूछने पर भी अपनी कोई राय व्यक्त न करती। लेकिन धीरे-धीरे उनके द्वारा लिखे जा रहे एक नए ढंग के इतिहास में मेरी रुचि जागने लगी। मैं उनसे पूछने लगी कि वे जो लिख रहे हैं, उसे ठीक-ठीक समझने के लिए मुझे क्या-क्या पढ़ना चाहिए। पापा अपने निजी पुस्तकालय से पुस्तकें निकालकर देते और मैं उन्हें पढ़ती रहती। लेटे-लेटे पढ़ने से थक जाती, तो बैठकर पढ़ने लगती। कभी लिखने-पढ़ने की मेज पर, कभी सोफे या दीवान पर, कभी बाहर लॉन में बैठकर।

घर के सामने वाले लॉन में माली ने तरह-तरह के फूलों के पौधे लगा रखे थे। उतरती सर्दियों की सुहावनी धूप में मखमली हरी घास पर फूलों की क्यारियों के पास बैठकर पढ़ते हुए मैं अक्सर सोचने लगती कि मैं जो नौकरी कर रही थी, वह तो निपट गुलामी थी। ऐसी गुलामी, जिसने मुझसे सारी आजादियाँ छीन ली थीं। जैसे छुट्टी के दिन देर तक सोये पड़े रहने की आजादी। माता-पिता के साथ बैठकर मनचाही चीजें खाते-पीते ढेर सारी बातें करने की आजादी। किताबें पढ़ने और संगीत सुनने की आजादी। टी.वी. और फिल्में देखने की आजादी। मित्रों के साथ घूमने-फिरने की आजादी। और सबसे बड़ी आजादी तो यह - अपने घर के लॉन में, फूलों की क्यारियों के पास, हरी घास पर सुहावनी धूप में चित्त लेटकर नीले आसमान को देखते रहने की आजादी। या आँखें बंद करके एक साथ आती कई पक्षियों की आवाजों को अलग-अलग करके सुनने की आजादी। या एक साथ आती कई फूलों की खुशबुओं में से एक-एक को अलग करके पहचानने की आजादी।

एक दिन जब मैं लॉन में बैठी कुछ पढ़ने का प्रयास कर रही थी और बार-बार जी उचट जाने के कारण किताब बंद करके सामने देख रही थी, अचानक मुझे लगा कि मैंने कुछ ऐसा देखा है, जो कल तक वहाँ नहीं था। सहसा मैं समझ नहीं पाई और सोचने लगी - वह क्या था?

मुझे याद आया कि वहाँ जामुन का पेड़ था, जिसके जामुन मैंने बरसों खाए और अपने दोस्तों को खिलाए थे। फिर एक दिन ऐसी जोरदार आँधी आई कि जामुन का वह पेड़ टूटकर गिर पड़ा। आँधी थमने पर हम सबने टूटकर गिरे पेड़ को ध्यान से देखा, तो यह पता चला कि हम सब पेड़ को लेकर काफी समय से परेशान क्यों थे। परेशान थे, लेकिन समझ नहीं पा रहे थे कि पेड़ सूखता क्यों जा रहा है। पतझड़ न होने के बावजूद

उसके पत्ते पीले पड़-पड़कर झड़ते क्यों जा रहे हैं? खाद-पानी देने पर भी पेड़ हरा-भरा क्यों नहीं हो रहा है? कारण यह था कि पेड़ के तने के पिछले हिस्से में, जो चारदीवारी से सटा था और सामने से दिखाई नहीं देता था, न जाने कब दीमक लग गई थी और उस तरफ से तना खोखला हो चुका था। खोखला और इतना कमजोर कि आँधी का झटका झेल नहीं पाया, टूट गया।

श्यामा के बढ़ई पति रामकुमार ने पहले तो पेड़ की टहनियाँ काट-काटकर फेंकीं और फिर तने पर आरी चलाते हुए कहा, "तनिक भी जान बाकी नहीं रही इसमें। निरा काठ हो चुका है!"

मैंने कहा, "तो तने को आरी से काट क्यों रहे हो? उखाड़कर फेंक दो न!" रामकुमार ने कहा, "अगर जमीन में इसकी जड़ें सही-सलामत हैं, तो किसी दिन इस काठ में से कोई कल्ला फूट सकता है और उससे जामुन का एक नया पेड़ बन सकता है।"

उसने तने को टूटी हुई जगह पर इतनी सफाई से काटा कि वह बैठने लायक बन गया। हम कटे हुए तने को काठ की कुर्सी कहने लगे। श्यामा के बच्चे लॉन में खेलते समय उस पर कूदकर चढ़ते-उतरते थे और खेल-खेल में कभी राजा बनकर न्याय करने, तो कभी मास्टर बनकर पढ़ाने के लिए बैठते थे। मैं भी कभी-कभी जाकर उस पर बैठ जाती थी।

उस दिन मुझे लगा कि काठ की कुर्सी मुझे बुला रही है। मैं उठी और उस पर बैठने के लिए चल दी। लेकिन पास पहुँची, तो चकित, विस्मित और इतनी हर्षित हो उठी कि वहीं से चिल्लायी, "पापा... पापा... जल्दी आइए, आपको एक चीज दिखाऊँ!"

पापा आए, तो मैंने उन्हें दिखाया कि काठ की कुर्सी में से एक कल्ला फूट आया है, जिसके सिरे पर एक बहुत ही प्यारी कोंपल निकली हुई है। पापा ने देखा और प्रसन्न होकर कह उठे, "वाह! काठ में कोंपल!" और मुझसे हाथ मिलाकर बोले, "बधाई हो!"

धीरे-धीरे मैं स्वयं को स्वस्थ और प्रसन्न अनुभव करने लगी। मयंक के साथ की और उसके बाद की स्थितियों पर विचार करती, तो गर्भपात वाला दिन अवश्य याद आता, लेकिन विचित्र बात यह थी कि उस दिन की स्मृति में मयंक बिलकुल अप्रासंगिक हो जाता और मन में पापा के प्रति गर्वमिश्रित प्यार उमड़ आता। लगता, जैसे उन्होंने मुझे फिर से एक नया जन्म और जीवन दिया है। साथ ही एक कर्तव्य-बोध जैसा भी होता कि मुझे अपना यह नया जन्म सार्थक करना है, नया जीवन बेहतर तरीके से जीना है।

अब पापा जब अपना लिखा पढ़कर सुनाते, तो मैं पूरी रुचि के साथ सुनती। बीच-बीच में उन्हें टोककर तरह-तरह के प्रश्न करती, अपनी राय व्यक्त करती, जिसमें कभी प्रशंसा होती, तो कभी आलोचना भी। फिर तो उनकी पुस्तक के विषय में मेरी रुचि इतनी बढ़ी कि मैं घर में अपने काम की कोई किताब न पाकर बाजार से खरीदकर लाने लगी।

एक दिन मैं खान मार्केट में पुस्तकों की एक दुकान पर गई। दुकानदार से किसी पुस्तक के बारे में पूछ रही थी कि अचानक दुकान के अंदर पुस्तक उलटते-पलटते एक व्यक्ति पर मेरी नजर पड़ी। हुलिया कुछ बदला हुआ था - शर्ट-पैंट की जगह खादी का कुरता-पाजामा और सफाचट चेहरे की जगह दाढ़ी-मूँछ - लेकिन पहली नजर में ही मैं उसे पहचान गई। बसंत! सिर से पाँव तक एक सुखद सिहरन मेरे भीतर दौड़ गई। वर्षों बाद अचानक उसे देखकर मैं अस्थिर-सी हो गई। समझ नहीं पा रही थी - उसे देखती रहूँ या नजरें फेर लूँ? खड़ी रहूँ या वहाँ से चसल दूँ? पुकारे जाने की प्रतीक्षा करूँ या पुकार लूँ?

तभी वह दुकानदार से कुछ पूछने के लिए मुड़ा और मुझे देखकर चौंक गया। आगे बढ़कर बोला, "अरे ...तुम?" मैंने कहा, "हाँ, मैं दीक्षा।" उसने मुझे नाटकीय ढंग से निहारते हुए कहा, "बिलकुल अपनी माँ जैसी हो गई हो - सुंदर! शानदार!" मेरी स्मृति में क्षणांश के लिए वह दृश्य कौंध गया, जब माँ ने उसके मुँह पर दरवाजा भड़ाक से बंद किया था। मैंने कहा, "माँ के उस दिन के व्यवहार के लिए मैं आपसे क्षमा चाहती हूँ।" उसने आँखें सिकोड़कर पूछा, "किस दिन के...?" और हँस पड़ा, "अच्छा, उस दिन के? यानी तुम्हें किसी ने बताया नहीं कि वह मामला तो अगले दिन ही रफा-दफा हो गया था?" मैंने चकित होकर पूछा, "कैसे?" तो उसने दुकान से बाहर निकलकर कहा, "वहाँ सामने बहुत अच्छी कॉफी मिलती है, पियोगी?"

कॉफी पीते हुए उसने बताया कि उन दिनों वह मेरे प्रति एक विकट सम्मोहन की स्थिति में जा पहुँचा था। जानता था कि अपने गुरु की बेटी से, जो उससे आठ-नौ साल छोटी है, प्रेम करना ठीक नहीं है। अनुचित है। अनैतिक है। लेकिन लाख समझाने पर भी उसका मन मानता ही नहीं था। मेरा खयाल उसके दिमाग से उतरता ही नहीं था। इसीलिए कोई काम हो या न हो, वह पापा से मिलने चला आता था। मुझसे बात नहीं करता था, लेकिन मुझे देखने के लिए तड़पता रहता था। एक बार आने पर मैं उसे दिखाई न देती, तो उसी दिन दूसरी बार आ जाता। मानो किसी तरह मेरी एक झलक ही देखने को मिल जाए, तो उसका जीवन धन्य हो जाए। पापा ने तो शायद इस पर ध्यान नहीं दिया, लेकिन माँ समझ गई और...।

"तो मामला रफा-दफा कैसे हुआ?" मैंने पूछा, तो उसने कहा, "अगले दिन सर ने मुझे इतिहास विभाग में मिलने के लिए बुलाया। मैम भी वहीं थीं। दोनों मुझे कॉफी हाउस ले गए। सामने बिठाकर समझाया कि मैं ही नहीं, तुम भी अपनी किशोर भावुकता में मेरे लिए पागल हो। मैं तो समझदार हूँ, पढ़ाई पूरी कर चुका हूँ, लेकिन तुम्हारा पागलपन तुम्हारी पढ़ाई-लिखाई चौपट कर देगा। इसलिए मुझे तुमसे दूर ही रहना चाहिए। सर और मैम बारी-बारी से कुछ कह रहे थे, लेकिन मैं वह सब नहीं, एक ही बात बार-बार सुन रहा था कि तुम भी मेरे लिए पागल हो। वे तुम्हारे पागलपन की बात कर रहे थे और मैं अपने पागलपन को समझ रहा था। समझ रहा था और मुझे इतना अच्छा लग रहा था कि मैं एक ही साथ स्वयं को भाग्यशाली और संजीदा और समझदार और जिम्मेदार महसूस करते हुए फैसला कर रहा था कि अब तुम्हारे घर नहीं जाऊँगा।"

मैंने कुछ शरारत के-से अंदाज में कहा, "उस दिन जो दरवाजा आपके लिए बंद हुआ था, अगर फिर से खुल जाए?" कॉफी के प्याले को मुँह की ओर ले जाता उसका हाथ वहीं थम गया। उसने मेरी आँखों में देखा और मुस्कराया, "तो मैं उस घर में जरूर आना चाहूँगा।" मैंने पूछा, "अकेले आएँगे या किसी के साथ?" मेरा अभिप्राय समझकर वह मुस्कराया, "मैं तो अभी तक अकेला ही हूँ। तुम?" मैंने कहा, "मैं भी।"

मैंने उसके कामकाज के बारे में पूछा, तो उसने कहा, "एक बार मैं एक न्यूज चौनल में काम करने वाले अपने एक कैमरामैन मित्र के साथ विदर्भ चला गया, जहाँ के गाँवों में जाकर उसे किसान आत्महत्याओं के बारे में कुछ रिकॉर्डिंग करनी थी। वहाँ उसके साथ घूमते-फिरते अचानक मुझे कुछ सूझा और मैंने मित्र से अपने लिए भी कुछ दृश्य, कुछ संवाद, कुछ साक्षात्कार रिकॉर्ड करा लिए। वापस दिल्ली आकर मैंने एक वीडियो बनाया और यूट्यूब पर डाल दिया। उसे दुनिया भर में देखा और सराहा गया। तब मैंने अपने कैमरामैन मित्र से कहा कि आओ, अपनी एक टीम बनाएँ और कुछ डॉक्यूमेंटरी फिल्में बनाएँ। फिल्में भी सफल रहीं। अब मैं यही काम करता हूँ। सर को मेरा काम पसंद है।"

"पापा को? कैसे?" मैंने पूछा, तो इत्मीनान से अपनी कॉफी खत्म करके उसने जवाब दिया, "एक दिन मैं सर को अपने घर ले गया। उन्हें अपनी फिल्में दिखाई। वे बहुत खुश हुए और उन्होंने मुझे एक सुझाव दिया, जो मुझे जँच गया। उन्होंने कहा कि भविष्य में ये फिल्में इतिहास लिखने के लिए बहुत अच्छी स्रोत सामग्री हो सकती हैं। आज का मीडिया किसानों और मजदूरों को अछूत मानता है। वह उनके जीवन को, संघर्षों को, आंदोलनों को दिखाता ही नहीं है। मानो उनका कोई अस्तित्व ही नहीं है।

अगर तुम सारे देश में घूम-घूमकर यह काम कर सको, तो बहुत बड़ा ऐतिहासिक काम होगा। मैंने उनसे कहा कि सर, इस काम के लिए मैं पूरे देश में तो क्या, पूरी दुनिया में घूम सकता हूँ। यह सुनकर सर ने मुझे आशीर्वाद दिया - तब तो तुम फाह्यान, इब्नबतूता, मार्को पोलो, बर्नियर, ट्रैवर्नियर जैसे घुमक्कड़ इतिहासकारों के वंशज बनकर निकल पड़ो। उन्होंने अपने इतिहास कलम से लिखे, तुम अपना इतिहास कैमरे से लिखो।"

मैं एकटक उसकी ओर देखती हुई उसे सुन रही थी और शायद मुस्करा भी रही थी। यह देखकर वह सचेत-सा होकर बोला, "अरे, मैं ही बोले जा रहा हूँ, तुम भी तो अपने बारे में कुछ बताओ!" मैंने मयंक वाला प्रसंग छोड़कर नौकरी करने और छोड़ देने के बारे में बताया और कहा, "आजकल बेरोजगार हूँ। क्या मैं आपकी टीम में शामिल हो सकती हूँ?" बसंत खुश हो गया, "वाह! नेकी और पूछ-पूछ! अभी तक हमारी टीम में कोई लड़की नहीं है। तुम आ जाओगी, तो कमेंटरी और इंटरव्यूज तुम से ही कराएँगे। हमारी फिल्मों के रूखे-सूखे यथार्थ में भी कुछ ग्लैमर आ जाएगा।"

मित्रो, मैं शायद बहक रही हूँ। विषय से भटक गई हूँ। मैं यहाँ अपने माता-पिता के बारे में बोलने आई थी और अपने बारे में बोले जा रही हूँ। वैसे भी मैंने आपका बहुत समय ले लिया है, इसलिए संक्षेप में अपनी बात समेटते हुए कहूँगी कि उस मुलाकात के बाद बसंत घर आने लगा और हम बाहर भी मिलने लगे।

अब या तो यह मात्र संयोग था, या पापा ने उसे पहले से बता रखा था, वह उस दिन भी आया, जिस दिन माँ तीन साल का प्रवास पूरा करके पोलैंड से लौटीं। माँ उसे देखकर प्रसन्न हुईं। मुझे लगा कि पापा फोन पर माँ को मेरे और बसंत के बारे में बताते रहे हैं। इसलिए जब उसने माँ और पापा से कहा कि हम दोनों शादी करना चाहते हैं, तो माँ ने हँसकर कहा, "मेरी बेटी ने भी मेरी ही तरह उम्र में काफी बड़ा लड़का ढूँढ़ा है।" लेकिन अगले ही पल संजीदा होकर बोलीं, "सुनो, बसंत, बाद में तुम्हें पता चले, इससे बेहतर है कि पहले ही बता दिया जाए। दीक्षा एक लड़के से..." माँ की बात पूरी होने के पहले ही बसंत हँस पड़ा। बोला, "वह मयंक वाला किस्सा, मैम? दीक्षा उसके बारे में, अपने गर्भपात तक के बारे में, मुझे सब कुछ बता चुकी है। आप डरें नहीं, हम किसी बीते कल के लोग नहीं, आने वाले कल के लोग हैं। और थोड़े-से पागल भी। आप ने ही तो एक दिन हम दोनों को पागल कहा था!" पापा ने मुस्कराते हुए कहा, "अरे, बसंत, बुरा न मानो! ये तो मुझे भी पागल कहती रहती हैं।" माँ भी मुस्कराई, "तो ठीक है। तुम सारे पागलों के बीच अकेली समझदार मैं तुम सब को आशीर्वाद देती हूँ - खुश रहो!"

और मैं खुश हूँ। अब मैं बसंत के साथ दुनिया देखने वाली, कैमरे से इतिहास लिखने वाली, एक घुमक्कड़ इतिहासकार हो गई हूँ। मैं देख रही हूँ कि आज की दुनिया को बेहतर बनाने के लिए लोग हर देश में तरह-तरह के आंदोलन चला रहे हैं और एक उम्मीद जगा रहे हैं कि यह दुनिया सचमुच बेहतर बनाई जा सकती है। वे जन-आंदोलनों के जरिये दुनिया का नया इतिहास लिख रहे हैं और हम उन आंदोलनों की डॉक्यूमेंटरी फिल्में बनाकर कैमरे के जरिये उनका इतिहास लिख रहे हैं।

हम दुनिया भर में घूमते हैं, लेकिन घर हमारा दिल्ली ही है। शादी से पहले बसंत अकेला रहता था, शादी के बाद वह हमारे साथ आकर रहने लगा। हमारा एक बेटा है। उसका नाम हमने अपने घुमक्कड़ इतिहासकार राहुल सांकृत्यायन के नाम पर राहुल रखा है। राहुल स्कूल जाने लगा है। छुट्टियों में वह हमारे साथ घूमता है और बाकी समय, जब हम बाहर रहते हैं, यहीं रहता है। पहले नाना-नानी के साथ रहता था, अब एक साल से, जब से वे गुजरे हैं, वह अपनी श्यामा चाची के साथ रहता है। आज के समारोह में भी वह शामिल है। बिलकुल सामने वाली कतार में वह बसंत और श्यामा के साथ बैठा है और इशारों से कह रहा है कि बहुत बोल चुकीं, अब बस भी करो!

मित्रो, मैंने आपसे कहा था कि अपनी बात मैं अपने पिता का एक पत्र पढ़कर पूरी करूँगी। यह पत्र पापा ने तब लिखा था, जब मैं और बसंत ब्राजील में चल रहे एक जन-आंदोलन की डॉक्यूमेंटरी बनाने में व्यस्त थे। पापा ने अपनी नई पुस्तक 'भूमंडलीकरण का इतिहास' हमें भेजी थी और उसके साथ भेजा था यह पत्र, जो मैं आपको सुनाने के लिए लाई हूँ। पत्र के आरंभ और अंत को छोड़कर मैं बीच में से पढ़ रही हूँ।

"...तुम दोनों एक अत्यंत महत्वपूर्ण ऐतिहासिक कार्य कर रहे हो। हम एक महान क्रांतिकारी दौर से गुजर रहे हैं। कहें कि क्रांति हो रही है और हम उसमें शामिल हैं। क्रांति किसी एक तारीख को घटित होने वाली घटना नहीं, एक लंबे समय में चलने वाली प्रक्रिया होती है। वही प्रक्रिया आजकल एक नए और अनोखे रूप में जारी है। अब तक दुनिया में जो क्रांतियाँ हुई हैं, किसी एक देश में हुई हैं। यह क्रांति समूची दुनिया में हो रही है। पुरानी विश्व व्यवस्था के काठ में एक नई विश्व व्यवस्था की कोंपल फूट रही है। इसलिए एक तरफ दुनिया खंड-खंड हो रही है, दूसरी तरफ मिलकर एक हो रही है। दुनिया एक तरफ युद्धों में नष्ट की जा रही है, तो दूसरी तरफ शांतिपूर्वक रची जा रही है। दुनिया एक तरफ घृणा में अंधी होकर बर्बर बन रही है, तो दूसरी ओर प्रेम में डूबकर मानवीय बन रही है। एक तरफ दुनिया के नष्ट हो जाने की विकट आशंका है, तो दूसरी तरफ उसके नए निर्माण की प्रबल संभावना। ध्वंस और निर्माण की

शक्तियों के बीच एक भूमंडलीय युद्ध छिड़ा हुआ है, जिसमें दुनिया के सभी लोग इस या उस पक्ष से शामिल हैं। तुम लोग इस महाभारत के संजय हो। इसका इतिहास दुनिया को दिखा-सुना रहे हो। लेकिन याद रखो, इतिहास कोरा तथ्यात्मक विवरण नहीं होता, बल्कि एक सर्जनात्मक कृति होता है। वह एक कहानी होता है और कहानी यथार्थ की होते हुए भी कल्पना से लिखी जाती है - एक ऐसी कल्पना से, जो अतीत के अनुभवों से दृष्टिसंपन्न होकर वर्तमान को देखती है और भविष्य को दिखाती है...।"